सिद्धयोग

संस्थापक, संरक्षक एवं संपादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

वर्ष २०
अंक २

जून
१९८७

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सँवाई, आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सवाई

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

जून
१९८७

* यं ज्ञात्वा मुच्यन्ते जन्तु (प्रार्थना) १
* योगियों का उपाय प्रत्यय (विशेष लेख) २
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
* अल्पमेधसाम् ६
श्री दर्शनानन्द
* योग और प्रारब्ध भोग ९
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
* चित्तवृत्तियाँ १५
श्री डा० कृष्णकान्त शर्मा
* जीवन का एकमात्र लक्ष्य—परमात्म तत्व श्रीकृष्ण २५
श्री ब्रह्मचारी ओमप्रकाश
* पत्र-पुष्प-फल-तोयम् २८
* वर्तमान समस्यायें और योग ३०
श्री डा० जीवनलाल शर्मा
* श्री प्रभुकृपा का—एक अलौकिक प्रसंग ३२
श्री केशव उपाध्याय
* प्राणायाम और ध्यान-समाधि ३५
श्री ऋषिवर उपमन्यु
* आत्म-शक्ति की उपासना ३७
पं. श्री किशोरीदास वाजपेयी
* निद्रा ३९
श्री जे० कृष्णमूर्ति
* स्वास्थ्य प्राप्ति के सात्विक उपाय ४१
श्री शिवानन्द
* छलकत गगरी (कविता) ४६
सुश्री उषा
* सादगी और संयम ४७

वार्षिक मूल्य ३० रुपये । इस अङ्क का ४ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्दान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २०

अङ्क २

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थं बहुविधं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग:' ॥

जून

१९८७

❁ यं ज्ञात्वा मुच्यन्ते जन्तुः ❁

इन्द्रियेभ्य परः मनो मनसः सत्वमुत्तमम् ।

सत्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको अलिङ्ग एवच ।

यं ज्ञात्वा मुच्यन्ते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥

अर्थात्

इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि उत्तम है, बुद्धि से उसका स्वामी जीवात्मा ऊँचा है और जीवात्मा से अव्यक्त शक्ति जिसे महत शक्ति भी कहते हैं उत्तम है।

और इस अव्यक्त महत शक्ति से भी उत्तम वह परम पुरुष है जो व्यापक और सर्वथा अलिग यानी उपाकार रहित है तथा जीवात्मा जिसे जानकर बन्धन मुक्त होकर आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

(कठोपनिषद्)

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

'सिद्धयोग' के गत अङ्क में पाठक पढ़ चुके हैं 'भव प्रत्यय किसको' पर पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी के विस्तृत विचार। इसी शृंखला को आगे बढ़ाते हुए इस अङ्क में आप पढ़िए योगियों का उपाय प्रत्यय, जिसकी आधारशिला के रूप में सामने आता है साथ ही योग-दर्शन का सूत्र 'श्रद्धावीर्य-स्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकइतरेषाम्।' इस सूत्र पर व्यासजी का भाष्य और गुरुदेवजी के अपने अनुभव पर आधारित कुछ और उपयोगी परामर्श।

—सं० सं०

योगियों का उपाय प्रत्यय

हमने अपने इससे पूर्व के लेख में 'भव प्रत्यय वाले' योगियों का वर्णन किया है और यह उस लेख में भली प्रकार से समझा दिया गया है कि जब तक साधक आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत समाधि में पारंगत नहीं होता तब तक उसको जन्म लेने मात्र से योग ध्यान की प्रतीति नहीं होती। किन्तु यह बात तो उन लोगों के लिए है जो जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास के फलस्वरूप कृतकृत्यता को पा चुके हैं। अब दूसरे व्यक्ति वे हैं जो साधारण एवं सामान्य रूप से अभ्यासशील हैं। भगवान् पतञ्जलिदेवजी ने ऐसे लोगों का उपाय प्रत्यय वालों के नाम से इंगित किया है। अर्थात्—इनको समाधि प्राप्तिके लिए यत्न या उपाय करना ही पड़ेगा लेकिन यह इनका प्रयत्न भी संयतात्मा लोगोंको ही अभ्यास की पराकाष्ठा पर पहुंचा सकता है। यदि कोई व्यक्ति संयमी नहीं है तो उनका अभ्यास भी उनको ऊँचे स्तर पर नहीं ले जा सकता। भगवान् पतञ्जलिदेवजी महाराज योग-दर्शन में उनके लिए—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात्—जो अभ्यासी उपाय प्रत्यय वाले हैं उनके अन्दर पैदा हुई श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि उनको कल्याण की ओर ले जाने वाली बनती है। इस सूत्र पर व्यास-भाष्य लिखते हुए भगवान् व्यासदेव लिखते हैं:—

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा: चेतस: सम्प्रसाद:। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्तते। येन यथावद्वस्तु जानाति तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञात: समाधिर्भवति।

अर्थात्—साधक के अन्दर श्रद्धा का उदय होना यह एक प्रकार से चित्त का प्रसाद है। जिस प्रकार से एक साधारण बालक की रक्षा माँ करती है उसी प्रकार से अभ्यासी साधक की रक्षा श्रद्धा करती है। श्रद्धालु व्यक्ति के अन्दर शनैः शनैः दृढ़ता बनती चली जाती है, क्योंकि श्रद्धा की उत्पत्ति सतोगुण से होती है और सतोगुण स्वयं प्रकाश स्वरूप है, इसलिये उसके अन्दर दृढ़ता का पैदा होना स्वतः ही अनिवार्य हो जाता है। जिन व्यक्तियों की श्रद्धा छिन्न-भिन्न होती रहती है, उनके मनों पर रजोगुण व तमोगुण के प्रभाव पड़ते रहते हैं और अन्तःकरण की शुद्धि के कारण जिन व्यक्तियों के मनमें श्रद्धा वीर्यवती हो जाती है उनको कुछ ही समय के बाद ऋतुम्भरा प्रज्ञा होने लगता है और ऋतुम्भरा प्रज्ञा हो जानेके बाद चित्त निर्विघ्न समाधिस्थ हो जाता है। ऐसे साधक के समाधिस्थ हो जाने पर कुछ ही समय के बाद प्रज्ञाविवेक प्राप्त जाता है, जिससे वह व्यक्ति यथार्थ का ज्ञाता बन जाया करता है। इस सूत्र के अर्थ में यह शब्द थोड़े से क्लिष्ट हैं, जिससे हर व्यक्ति उन सब बातों का ज्ञाता नहीं हो सकता। विषयको स्पष्ट करने के लिये उदाहरणों और प्रमाणों के द्वारा मैं इस विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ। आनन्दकंद अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं अपने मुखारविन्द से कहा है :—

श्रद्धवान् लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः।

—गीता ४/३९

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान प्राप्ति के तीन साधनों का प्रमुख संकेत किया। सबसे पहले "श्रद्धावान् लभते ज्ञानं" अर्थात् मनुष्य श्रद्धा के आधार पर ज्ञान को प्राप्त करता है और दूसरा वह व्यक्ति है जो संयतेन्द्रियस्त है तीसरा जो अपने अभ्यास में निरन्तर लगा रहता है। हमारे वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर इस प्रकार के वाक्य मिलते हैं कि—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमुपाघ्नतः।"

अर्थात्—ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा योगियों ने मौत को जीत लिया है। यह हो सकता है कि जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास के फलस्वरूप कोई व्यक्ति दृढ़ श्रद्धा को लेकर जन्म ले, किन्तु जन्म लेने के बाद उसको वातावरण कैसा मिलता है यह कुछ भी कहा नहीं जा सकता। यदि वातावरण दूषित मिला तो उसकी संयतेन्द्रियता में अवश्य कमी आ जायेगी और वह व्यक्ति साधना भी नहीं कर सकेगा। ऐसी स्थिति में वह अपने लक्ष्य से गिर जायगा। यदि साधक के मन के अन्दर संयतेन्द्रियता और तत्परता के भाव दृढ़ रूप से भरे हुए हैं तो अवश्य पतन से बच जायगा और अपने जीवन के परम लक्ष्य को पा जायगा। आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने ज्ञान प्राप्ति के लिए इन तीन ही प्रकार के तीन साधकों का अपनी श्रीमद्भगवद्गीता के अन्दर पूरा आदेश दियाहै कि नैष्ठिकीय दृढ़ श्रद्धा मन में आ जाने के बाद ही किसी मार्ग की ओर मनुष्य अपनी प्रवृत्ति बढ़ा सकता है, किन्तु मन में पूरा-पूरा श्रद्धा

और विश्वास का उदय होना तब तक नहीं हो सकता है जब तक साधक के मन में पूर्ण रूपेण सतोगुण का उदय न हो जाय, भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट रूप से कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य
श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो
यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥
—गीता १७/३

अर्थात्—जिस व्यक्ति के अन्दर जितना-जितना सतोगुण होता है उतना ही उसके अन्दर श्रद्धा और विश्वास पैदा हो जाता है और परमात्मा का स्वरूप श्रद्धामय है जिन विचारों का जो व्यक्ति जिस भी नाम रूप से उस सर्व-शक्तिमान का चिन्तन करता है उस ही नाम रूप से उसकी दृढ़ श्रद्धा के अनुसार वह उसके सामने आ जाता है। किन्तु आवश्यकता इस बात की रहती है कि वह साधक अपनी दृढ़ श्रद्धा के अनुसार प्रयत्नशील बना रहे। यदि उसके प्रयत्न में किसी प्रकार का व्यवधान आता है और गिरावट होती रहती है तो वह अपने परम लक्ष्य की ओर बढ़ नहीं पाता। किन्तु श्रद्धा और तत्परता को कायम रखने के लिए बहुत ही आवश्यक है कि मनुष्य संयतेन्द्रिय रहे। यही एक मार्ग ऐसा है जिसमें आ करके ऊँचे से ऊँचे व्यक्ति पछड़ जाते हैं। और उनकी स्थितप्रज्ञता नष्ट हो जाती है। स्थित प्रज्ञता के लक्षण श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में निम्नलिखित श्लोकों के अन्दर बतलाये हैं। अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से प्रश्न किया।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा
समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत
किमासीत व्रजेत किम ॥
—गीता २/५४

अर्थात्—हे प्रभो ! समाधिस्थ रहने वाले स्थित प्रज्ञ व्यक्ति के क्या लक्षण हैं वह क्या बोलता है कैसे बैठता है कैसे चलता है? इसका उत्तर देते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं:—

प्रजहाति यदा कामा-
न्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः
स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः
सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः
स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्त-
त्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
यदा संहरते चायं
कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य-
स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
—गीता २/५५-५६-५७-५८

अर्थात्—जो व्यक्ति अपने मन में पैदा

होने वाली सभी कामनाओं को छोड़कर के अपने आत्म-दर्शन में ही संतुष्ट रहता है। वह स्थित प्रज्ञ कहलाता है और दुःखों में जो बहुत दुःखी नहीं होता, सुख पाकर जो इतराता नहीं, राग, भय और क्रोध जिसके अन्दर से निकल गये हैं ऐसा मुनि स्थित प्रज्ञ कहलाता है। इसी प्रकार यत्र-तत्र सर्वत्र शुभाशुभ को प्राप्त करके जो आसक्ति रहित रहता है जो बहुत खुशी नहीं मानता और न किसी से द्वेष मानता है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है। और जो व्यक्ति अपने मन और बुद्धि इन्द्रियों को विषयों से इस प्रकार दूर हटा लेता है जैसे एक कछुआ अपने अङ्गों को सिकोड़ करके अपने अन्दर कर लिया करता है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है। किन्तु यह सारा का सारा रूपक इन्द्रिय-जय से सम्बन्ध रखता है। और इन्द्रिय-जय की साधना बहुत ही कठिन साधना है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं यह शब्द अपने मुखारविन्द से कह दिये हैं :

यततो ह्यपि कौन्तेय
पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि
हरन्ति प्रसभं मनः ॥
तानि सर्वाणि संयम्य
युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

—गीता २/६०-६१

अर्थात्—बड़े-बड़े विद्वान् और योगी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न करते रहते हैं। किन्तु प्रयत्न करते रहने पर भी इन्द्रियों की ताकत इतनी प्रबल है कि वह जबरदस्ती मन को हर लेती है। क्योंकि इन्द्रियां मथ डालने वाली हैं। उन इन्द्रियों पर पूर्ण-रूपेण नियन्त्रण कर जो योगयुक्त होकर मत्परायण रहता है और इन्द्रिय जिसके वश में आ जाती है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है। इसलिए ऊपर लिखे तीनों प्रकार की साधनाओं में सबसे प्रमुख संयतेन्द्रियता है और इन्द्रियों के अन्दर विकृति रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से ही अधिक मात्रा में हुआ करती है। जो व्यक्ति तीव्रता के साथ अपने आपको साधना में लगाये रहता है और संयतेन्द्रिय रहता है वह यथार्थता से शान्ति को पा जाया करता है। इसीलिए भगवान पतञ्जलिदेव ने—

श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

यह सूत्र कह कहकर एक ऐसे मार्ग का दर्शन कराया है कि मनुष्य दृढ़ मन होकर अपने आपको बढ़ाता है तो वह अवश्य ही शाश्वत शान्ति को पा जाता है। अतः साधक वर्ग के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि वह अपने आपको संयतेन्द्रिय बनाये। और जो व्यक्ति सात्विक आहार-विहार करता हुआ अपनी नैष्ठिकी श्रद्धा के साथ निरन्तर लगा रहेगा उसके अन्दर धीरे-धीरे सतोगुण बढ़ता चला जायेगा और सतोगुण के बढ़ जाने पर अन्तर्मुखी प्रवृत्ति हो जायेगी और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति हो जाने के बाद उपरोक्त विधि से उपाय प्रत्ययावलम्बी होकर जो साधक चलेंगे वे अवश्य ही शाश्वत शान्ति को पा जायेंगे।

अल्पमेधसाम्

❀ श्री दर्शनानन्द

'अल्पमेधसाम्' का अर्थ होता है संकुचित बुद्धि वाले लोग। अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद्गीता में इस शब्द का प्रयोग किया है उन लोगों के लिए जो अपनी संकुचित अल्प और संकीर्ण सी बुद्धि के वश होकर सर्वशक्ति और सर्वगुण सम्पन्न मुक्त परात्पर सत्ता की आराधना में मन न लगाकर शाश्वत सुख-शान्ति के महासागर तक पहुँचने का लाभ नहीं ले पाते लेकिन लग जाते हैं देवगण तथा भूतादि की पूजा उपासना में जिसका फल तो उपासक को उसकी श्रद्धानुसार मिल जाता है किन्तु वह फल उसका शाश्वत और स्थायी नहीं होता। सुनिये इस सम्बन्ध में व्यक्त किये गये उनके अपने विचारों को:—

यो यो यां यां तनुं भक्तः
श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां
तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया
युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्म-
यैव विहितान्हि तान् ॥
अन्तवत्तु फलं तेषां
तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति
मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
—गीता ७/२१-२२-२३

इन उपरोक्त श्लोकों का भावार्थ क्रमशः इस प्रकार है:—

जो-जो भक्त जिस-जिस देवता के तनुम (स्वरूप) को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस भक्त की उस श्रद्धा को (मैं) उस देवता के प्रति स्थिर करता हूँ। इससे वह भक्त पुरुष उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता के पूजन में संलग्न होता है और मेरे द्वारा ही विधान किये हुए इच्छित भोगों को निस्सन्देह प्राप्त होता है। परन्तु इन अल्प बुद्धि वाले देव पूजकों का वह फल नाशवान होता है। तथा यह भी कि देव पूजक देवताओं को ही प्राप्त कर पाते हैं और मेरे पूजक मुझे प्राप्त कर पाते हैं।

जगदात्मा यहाँ देव पूजा का निषेध तो नहीं करते किन्तु यह तो स्पष्ट कर ही रहे हैं कि देव पूजा और परात्पर सत्ता की पूजा में बहुत बड़ा भेद यही है कि देव और भौतिक शक्तियों के पूजक अपनी श्रद्धानुसार पूजा के लाभ से तो वञ्चित नहीं रहते। फल के भागी तो वे अवश्य हो जाते हैं किन्तु उनका वह फल स्थायी नहीं होता। अपितु क्षणिक और नाशवान होता है। अक्षय और नश्वर सुख तो केवल उस परात्पर सत्ता के आश्रय में आने से ही प्राप्त हो सकता है जिसे श्रीमद्भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन ने परिभाषित करते हुए कहा है:—

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥
—गीता ११/४३

अर्थात्—आप इस चराचर जगत के पिता और गुरु से भी बड़े गुरु हैं अति पूजनीय हैं। हे! अतिशय प्रभाव वाले तीनों लोकों में आपके समान भी दूसरा कोई नहीं फिर अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण का पूजा परामर्श वेदानुकूल यानी वेद सम्मत ही प्रतीत होता है। देवता तनुधारी होते हैं उनका कोई न कोई अपना रूप होता है। यदि उनके वास्तविक रूप से हम परिचित नहीं हैं और उस रूपकी—आकृति की हमें उपलब्धि न हो सके तो हम अपनी भावना या कल्पना के अनुसार उसका प्रतिमान बना डालते हैं। देवता और देवियों के रूप की अलग-अलग प्रतिमायें मानव कुल की कल्पना के इन्हीं प्रतिमानों के आधार पर ही तो अपना अस्तित्व बनाये हुये हैं। इस सिद्धान्त के आधार जो देवता तनुधारी हैं वे किसी असीमित फल के देने वाले नहीं हो सकते। क्योंकि उनकी शक्तियाँ सीमित तनु होने के कारण सीमित और अल्प फल प्रदायिनी ही हो सकती हैं। भूत गणादि की पूजा-अर्चना का वर्जन भी योगेश्वर श्रीकृष्ण ने यहाँ इसीलिए किया है कि इनका अस्तित्व भी नानानान परमाणुओं के संघात पर ही आश्रित रहता है। कल्पान्त में परमाणुओं के बिखराव पर इनका यह अस्तित्व समाप्त हो जाता है। अतः पृथ्वी, जल, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि देव शक्तियों की उपासना भी इनके नश्वर होने से अनश्वर फल देने की क्षमता नहीं रखती। अलबत्ता साधक की श्रद्धानुसार इन सबसे नश्वर फल प्राप्ति-विहित कर्मों को करने से अवश्य हो जाती है। यह तत्व समझाने के बाद भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं कि यदि उपासक अपनी उपासना का शाश्वत और अनश्वर फल मोक्ष की प्राप्ति करना चाहता है जन्म-मरण के बार-बार होने वाले दुःख से बचना चाहता है तो उसे एक परमदेव की उपासना करनी चाहिए जो इस सारे दृश्य जगत का निमित्त कारण है और जो अणु-अणु में व्याप्त होकर उन सबके अस्तित्वका आधार बना हुआ है। जो सबको जानता है, किन्तु जिसे जानने वाला और कोई भी नहीं है। श्रुति जिसकी परिभाषा इन शब्दों में व्यक्त करती है—

यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक
स्तनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

अर्थात्—जिससे श्रेष्ठ और दूसरा कोई नहीं है और न कोई कहीं जिससे बढ़कर है। न कोई कहीं जिससे छोटा है और न कहीं कोई जिससे महान है। जो एक ही मात्र अकेला अचल है स्तब्ध वृक्ष के समान स्थिर है तथा वह ही ऐसा एकमात्र परमपुरुष है जिससे यह समूचा ब्रह्माण्ड परिपूर्ण और प्रकाशित हो रहा है।

ऐसा देवों का देव वह महादेव है—मनुष्य की सम्पूर्ण कामनायें इसी की उपासना से पूर्ण हो सकती हैं। अमरफल की प्राप्ति इस परमपुरुष को ध्यान में लाये बिना देवाराधन अथवा भूतगणादि की पूजा से नहीं हो सकती। धीर-गम्भीर अनन्त महासागर की उपेक्षा करके जो व्यक्ति ओस कणों से अपने जीवन-उद्यान को हराभरा रखना चाहता हो उसे अल्पमेधसाम् मनुष्यों की गणना में ही रखा जा सकता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी सर्वेश्वर भगवान् की पूजा और उपासना करने का कुछ ऐसा ही परामर्श इस प्रकार दिया है।

ऊँची जाति पपीहरा, पियै न नीचौ नीर।
कै जाँचै घनश्याम सों, कै दुःख सहै शरीर॥

इसलिए देवोपासना की अपेक्षा भगवान् की उपासना के लिए ध्यान योग का मार्ग अपनाना ही सर्वोत्तम मार्ग हो सकता है। अथर्ववेद के काण्ड २० का मन्त्र संख्या ६९।१ इसी योग-साधना के मार्ग को अपनाकर प्रभु साक्षात्कार से कृतार्थ होने के लिए हमें प्रेरितकर रहा है, इन शब्दों में—

स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा सनः।

अर्थात्—सः=वह परमेश्वर, घ=निश्चय से, नः=हमारी, योगे=योगविभूतियों की की प्राप्ति में सः=वह, पुरन्ध्याम्=दीर्घ-काल के ध्यान में आ प्रकट होता है। सः=वह, वाजेभिः शक्तियों बलों तथा आध्यात्मिक अन्नों के प्रदान के साथ, नः=हमें, आगमत्=आ प्रकट होता है?

इससे अधिक योग साधना द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार पा लेने का और क्या प्रमाण हो सकता है।

योगिराज श्रीकृष्ण भी यही तो बता रहे हैं कि परब्रह्म परमात्मा को छोड़कर जो सबकी हृदय गुफा में निहित है की उपासना के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं की पूजा-उपासना करके अल्पमेधसाम् यानी संकीर्ण बुद्धि वाले मानुषों की शृंखला में क्यों अपना नाम लिखाना चाहते हो।

रहिमन प्रीति सराहिये, मिले होत रँग दून।
ज्यों जरदी हरदी तजै, तजै सफेदी चून॥

रहीम कवि कहते हैं कि चूने और हल्दी के से मेल वाले प्रेम की सराहना करनी चाहिए, क्योंकि हल्दी और चूना दोनों ही मिलकर अपना पीला और सफेद रङ्ग छोड़कर लाल रङ्ग के हो जाते हैं। ऐसे ही प्रेम में दो प्रेमी-हृदय अपना अस्तित्व भूलकर एकाकार हो जाते हैं, वास्तव में ऐसा ही प्रेम सराहनीय है।

योग और प्रारब्ध भोग

—आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

जीवन में जो कुछ सुख-दुःख प्राप्त होता है उसका कारण हमारा भाव है। भाव की प्रक्रियाओं से कर्म पैदा होता है। हमारा भाव संस्थान चेतना का निर्वहण करके बाह्य परिस्थिति से क्रिया प्रतिक्रिया करके चेतना को तरंग रूप से प्रसारित करता है। भाव और कर्म मिलकर कर्माशय तैयार करते रहते हैं। कर्माशय में आरब्ध और सञ्चित कर्म इकट्ठे होकर भोग के लिए बाहर आकर क्रियमाण कर्मों में बदल जाते हैं। संचित कर्मों में से प्रधान कर्म अपने साथ समान धर्म के कर्मों को लेकर संस्कार के रूप से जन्म, आयु और भोग तैयार करता है। जो भोग के लिए प्रस्तुत कर्म होता है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। प्रारब्ध भोग के वशीभूत होकर जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं। यह कर्म-चक्र अहर्निश चलता रहता है। कर्म हमारे भाव अनुसार पुण्य-पाप अथवा पुण्य-पाप से मिले-जुले होते हैं। केवल योगी के कर्म भाव-रहित-शुद्ध कर्म क्रियमात्र होते हैं। इसलिए योगी कर्म करते हुए संस्कार नहीं बनाया करते। ध्यान, समाधि द्वारा योगी कामना और वासना को वैराग्य द्वारा क्षीण कर लेते हैं, जिससे उनके अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश पैदा हो जाता है। ज्ञान की दशा में जो कर्म करता है। वह दुःख का कारण नहीं होता और न उससे संस्कार-चक्र का निर्माण होता है। जितने अज्ञान-जनित दुःख हैं, उनकी निवृत्ति ज्ञान से हो जाती है, किन्तु प्रारब्ध-जनित दुःखों की निवृत्ति भोगने से ही होती है। प्रारब्ध कर्म बिना भोगे हुए क्षीण नहीं होते। योगी ध्यानयोग द्वारा कर्मों को सूक्ष्ममें भोगकर समाप्त करने का विज्ञान जानकर अपने कर्माशय को शुद्ध बना देता है। वह दो प्रकार से भोग करके अपने कर्मों को निःशेष करता है। एक तो कर्मों के बीज अस्मिता (अहंकार) को ज्ञानाग्नि से भूनकर उनकी अंकुरित होने की सामर्थ्य को सदा-सदा के लिए नष्ट कर देता है। धान के ऊपर का छिलका उतार कर, जैसे चावल की अंकुरण क्षमता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कामना और संकल्प रहित होकर भाव का छिलका कर्मों से उतार कर केवल क्रिया के रूप में कर्म करने पर संस्कारों का जन्म नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में इस सिद्धान्तों का निरूपण इस प्रकार करते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः
कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं
तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं
नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि
नैव किंचित्करोति सः॥

निराशीर्यतचित्तात्मा
त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म
कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो
द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च
कृत्वापि न निबध्यते ॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य
ज्ञानावस्थित चेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म
समग्रं प्रविलीयते ॥

—गीता ४/१९-२०-२१-२२-२३

अर्थात् जिस व्यक्ति को कर्म करते हुए खेद नहीं होता तथा इच्छा रहित होकर कर्तव्य भाव से कर्म-परायण रहता है तथा कर्म-फल की कामना नहीं करता उसी प्रकार मैं यह करूँगा, ऐसा संकल्प जिसके मन में नहीं होता। जिसके समस्त कर्म ज्ञानपूर्वक होते हैं, मानो कर्मों की आहुति ज्ञानाग्नि देकर कर्मों को भस्म कर देता है, वह व्यक्ति बुद्धिमान है। ऐसा व्यक्ति अपने हृदय में स्थित परमात्मा के आनन्द में डूबा रहता है तथा "मोहि छाँड़ि दूसरि गति नाहीं।" यह मानकर बाहरी आलम्बनों की ओर उदासीन रहता है। ऐसा व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव रहित होने के कारण अकर्ता ही होता है। जो अहंकार और आशा का परित्याग करके अधिकाधिक प्रेम से ब्रह्म सुख का माधुर्य चखता है और 'यथा लाभ सन्तोष सदा ही' के मूलमन्त्र को हृदयंगम कर लेता है। जो अपने और पराये का भेद-भाव नहीं करता। जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती है, उसे अपना ही रूप मानता है, वह शरीर से ही कर्म करता है, मन अपने इष्ट में लगाकर रखता है। जैसा कि गोस्वामीजी कहते हैं—

कर ते कर्म करहिं विधि नाना ।
मन राखहिं जहाँ कृपानिधाना ॥

वह गीता के सिद्धान्तानुसार—

यस्य नाहंकृतो भावो
बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न
हन्ति न निबध्यते ॥

—गीता १८/१७

आत्मा कर्म का अधिष्ठान होने पर भी उसका कर्ता नहीं होता। अहंकार रहित निर्लिप्त बुद्धि से कर्म करने वाला यदि समस्त लोगों को मार दे तो भी वह कर्म-फल का भागी नहीं होता, क्योंकि वह कामना, अहंकार तथा संकल्प रहित हो गया है। ऐसा ज्ञानी पुरुष जब तक देह है, तब तक कर्म तो करता रहता है, किन्तु जैसे सूर्य की किरणें मलिन और पवित्र सभी स्थानों पर पड़ती हैं, पर वे न पवित्र होती हैं न मलिन। उसी प्रकार वह आत्म-स्वरूप में स्थित होने के कारण अकर्ता भाव को प्राप्त हो जाता है। देहाभिमान नष्ट हो जाने पर भी, जिन कर्मों के फल से देह उत्पन्न हुआ है वे कर्म उससे कार्य कराते

ही रहते हैं। उसके कर्म वैसे ही होते हैं जैसे बिना बोये हुए जंगल पैदा हो जाता है। जैसे दीवार पर बने चित्रों में कहीं पहाड़, कहीं समुद्र और कहीं अग्नि चित्रित होने से भिन्न-भिन्न लगते है, किन्तु वास्तव में वह दीवार से भिन्न कुछ भी नहीं है, इसी प्रकार आत्म-ज्ञानी को आत्मा से भिन्न कुछ भासित नहीं होता। उसके लिए सारे कर्म आनन्द रूप, ज्ञान रूप तथा मोक्ष फलभाजन बन जाते हैं। आत्म-दृष्टि के लिए ध्यान की आवश्यकता है। कर्म प्रकृति का साक्षात्कार करने पर निवृत्त होते हैं। जब तक प्रकृति का पूर्ण साक्षात्कार नहीं होता तब तक निष्कामता नहीं आती। जब तक प्रयोजन होता है तब तक प्रयोज्य रहता है। प्रयोज्य के रहते प्रयोजन रहता है। प्रयोज्य-प्रयोजन भाव ही कर्म शृंखला का कारण है। जब तक मनुष्य ध्यानपरायण नहीं बनता तब तक केवल ज्ञान से क्रियमाण कर्म अच्छे भले ही बन जायं। प्रारब्ध और संचित कर्म ध्यान और समाधि से ही शीघ्र भोग कर नष्ट किये जा सकते हैं। योग ही ऐसा विज्ञान है, जिससे कर्मों से कर्म काटने की क्रिया उसी प्रकार सम्पन्न होती है जिस प्रकार लोहे की बेड़ी को लोहे की छेनी से काटकर मुक्त हुआ करते हैं।

कर्त्तापने के गल जाने पर भोक्तापना स्वयमेव समाप्त हो जाता है। हम अपने साथ कई शरीर लिये घूम रहे हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय तथा तुरीयातीत शरीरों के माध्यम से चिति-शक्ति हमारे अन्दर से बाहर प्राण के रूप में प्रवाहित हो रही है। उसे जैन योग में तरंग लेश्या भाव शरीर, कर्म शरीर, मूर्च्छा, राग, द्वेष आदि प्रकार से विभक्त किया गया है। योग-दर्शन में तुरीय शरीर तक सभी शरीर भोग शरीर हैं। हम शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार स्तर पर कर्मों को भोगा करते हैं। आत्मा मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार सम्बन्ध से भोक्ता कहलाता है। वैसे आत्मा न कर्त्ता है और न भोक्ता। ध्यान में जब प्राण ब्रह्म नाड़ी में आते हैं तो समाधि होती है। समाधि में आत्मानन्द का अखण्ड-प्रवाह होता है। यह लेश्या और तरंगके साथ एकात्मभाव की अवस्था है। समाधि काल में हमारे प्रारब्ध का प्रवाह ठहर जाता है अथवा बीज रूप होकर सूक्ष्म में भुक्त हो जाता है। जैसे किसीका प्रारब्ध कर्म वर्तमान में क्लिष्ट कर्म विपाक के रूप में दुःख रूप फल देने को उद्यत हो रहा है। जैसे सर्पदंश से मृत्यु होने का योग है या किसी दुर्घटना से शरीर नाश का या अङ्ग-भङ्ग होने का योग है। यदि वह व्यक्ति समाधिस्थ है तो जिस ध्येय में उसका चित्त लय है, उस इष्ट की ताकत से प्रारब्ध का भोग सूक्ष्म होकर नष्ट हो जायगा। जैसे सर्प का ध्यान में दर्शन या दंश होकर सूक्ष्म शरीर से मन द्वारा उसका भोग हो जायगा। कभी-कभी इष्ट-कृपा से स्वप्न में उस संस्कार का भुगतान होकर वह नष्ट हो जायगा।

मृदु और मध्यम कोटि के प्रारब्ध कर्म का

भोग ध्यान द्वारा क्रम अवधि में तथा सूक्ष्म रूप से भोग कर नष्ट हो जाता है, क्योंकि नियम है कि जब तक संस्कारों का भोग नहीं होता तब तक अनन्त काल तक कर्माशय में संस्कार पड़े रहते हैं और अनुकूल अवसर मिलने पर एक जैसे संस्कार इकट्ठे होकर अपना फल देने लगते हैं। गरुड़ पुराण में इस सिद्धान्त का निरूपण है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं
कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म
जन्म कोटिशतैरपि॥

अर्थात् शुभ और अशुभ कर्मों का बिना भोग किये नाश नहीं होता। जब तक कर्मों का भोग नहीं होता तब तक करोड़ों जन्मों तक ये कर्म कर्माशय में पड़े रहते हैं। यदि ज्ञान प्राप्त हो जाय तो क्रियमाण कर्मों पर अधिकार हो जाता है। पुण्य कर्म होते हैं, जिनसे पाप कर्म नष्ट होते हैं। किन्तु पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्म ही सुख-दुःख के रूप में लोहे और सोने की जंजीरों की तरह बन्धन रूप ही हैं। अतः योगी कर्माशय के अन्दर के सभी संचित कर्मों को संस्कार साक्षात्कार द्वारा जानकर ध्यान-समाधि से नष्ट करता चला जाता है। जीवन्मुक्त अवस्था ज्ञान दशा है तथा विदेहावस्था कर्म निःशेष मोक्षावस्था है। ज्ञानी और योगी होकर साधक स्थूल-सूक्ष्म सभी पर्यायों को जानकर सब पर अपना अधिकार प्राप्त हुआ कर्म-बन्धन पर पूरा अधिकार प्राप्त कर स्वतन्त्र हो जाता है। पूर्ण स्वतन्त्रता परमोपलब्धि शैवागमों में "स्वातंत्र्य चितिशक्तिः" ऐसा कहा गया है। जब विराट चेतना हर देश और काल में व्याप्त हो जाती है तो कर्माशय नष्ट हो जाता है। लेकिन यह इतना आसान नहीं है। गीता में भगवान कहते हैं—"अनेक जन्म संसिद्धः ततो याति परां गतिम्।" अर्थात् अनेक जन्मों तक (जब तक संचित कर्मों का नाश नहीं होता तब तक) सिद्ध-अवस्था प्राप्त करके अन्त में संचित कर्मों के निःशेष हो जाने पर जब कर्म नहीं रहते तो कर्माशय नहीं रहता और कैवल्य सिद्धि प्राप्त होती है। कबीर ने इस स्थिति को "फूटा कुम्भ जल जलहि समाना" ऐसा कहा है। ब्रह्म सूत्र में—"भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते।" इस सूत्र में उल्लेख है कि प्रारब्ध और संचित दोनों प्रकार के कर्मों का भोग करके पाप-पुण्य दोनों को क्षीण करके योगी विदेहमुक्त होता है।

भोग-काल उपस्थित होने पर साधक को घबराना नहीं चाहिए। दुःख का संस्कार आने पर दुःख भोग द्वारा वह संस्कार नष्ट होता है। जिसे इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है, वह दुःख आने पर घबराता नहीं, बल्कि यह जानकर प्रसन्न होता है कि कांटा निकल गया और सुख आने पर पागल नहीं हो जाता बल्कि उसे भी संस्कार का भुगतान मानकर हल्का अनुभव करता है। यह स्थिति बाह्य ज्ञान-दशा में नहीं आ पाती। कहने को हम

भले ही कहते रहें कि ज्ञान हो गया है, इसलिए सुख-दुःख हमें विचलित नहीं कर पाते। वास्तव में ऐसा तभी हो पाता है, जब ध्यान द्वारा मन समाहित होता है। मन की एकाग्रता से संस्कार-चक्र ठहर जाता है। समाधिस्थ योगी का संस्कार-चक्र अपने अधिकार में हो जाता है। प्रारब्ध भोग सुख-दुःखात्मक होता है। संस्कार की तीन अवस्थायें होती हैं—उदार, प्रच्छन्न या प्रसुप्त और विच्छिन्न। जो संस्कार भोग में आ रहे हैं, उन्हें उदार संस्कार कहा जाता है और जो भोग में आने की प्रतीक्षा में पड़े हुए हैं, वे प्रसुप्त संस्कार कहलाते हैं तथा जो भोगकर नष्ट हो गये हैं, उन्हें विच्छिन्न संस्कार कहते हैं। संस्कार-प्रवाह से चित्त-विक्षिप्त होता है, अतः साधक को भोग का भुगतान करने में कर्ज अदा करने जैसा अनुभव करना चाहिए और समता का अभ्यास करते रहना चाहिए। योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा,
लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व,
नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
—गीता २/३८

सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा जय-पराजय को संस्कारों का भुगतान मानकर समबुद्धि से स्वीकार करते हुए जो धर्म-युद्ध (कर्म-क्षेत्र) में प्रवृत्त होता है वह पाप का भाजन नहीं बनता। भगवान् प्रारब्ध भोग के लिए सहनशीलता के विकास करने का आदेश देते हुए आगे कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय,
शीतोष्ण सुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तां-
स्तितिक्षस्व भारत ॥'
—गीता २/१४

संस्कार भोग के परिणामस्वरूप मनुष्य का अन्तःकरण विषयों की तरफ आकर्षित होता है। उसी से भ्रम और मोह होता है इन्द्रियाँ विषयों का सेवन करती हैं, जिससे सुख-दुःख का अनुभव होता है और हमारा अन्तःकरण सुख-दुःख से रंजित हो जाता है। जैसे कानों से हम अपनी निन्दा सुनते हैं तो द्वेष उत्पन्न होता है और स्तुति सुनकर सुख होता है। इसी प्रकार रूप-कुरूप को देखकर नेत्रों को सुख-दुःख का अनुभव होता है। यदि इन्द्रियाँ वश में हो जायें तो सुख-दुःख की प्रतीति आधी रह जाती है। ये विषय सुख ठहरते नहीं हैं क्योंकि वे संस्कार जन्य भोग के आधीन हैं। जिस व्यक्ति के साथ जब तक का संस्कार है, तभी तक वह पिता, पुत्र, भाई, मित्र या शत्रु के रूप में विद्यमान रहता है। जैसे ही संस्कार पूरा हुआ, जीव आगे के संस्कारों को भोगने के लिए दूसरे आलम्बनों और अधिष्ठानों से संयुक्त होता रहता है। इसीलिए सन्तजन कहा करते हैं कि सुख मृग मरीचिका की भाँति अथवा स्वप्न में भोगे गये ऐश्वर्य के तुल्य होता है। अतः साधक को सुख-दुःख दोनों को आने-जाने

वाले समझकर दृढ़ता से सहना चाहिए तथा संस्कार क्षय करने की ओर ध्यान और समाधि द्वारा प्रयत्न करते रहना चाहिए। विघ्न और विक्षेपों को संस्कार भोग समझकर अपनी साधना को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाने में ही बुद्धिमानी है। जो सुख-दुःख के झमेलों को एकरस होकर झेलता हुआ धीरपुरुष बन जाता है 'सोऽमृतत्वाय कल्पते'—वह अमृत पान कर पाता है और जो काँटा लग जाने पर काँटा—निकल जाने पर उसकी कसक का बार-बार स्मरण करता हुआ व्याकुल होता रहता है या काँटा कैसे लगा और कैसे न लग पाता, इसी की कथा कहने में लगा रहता है वह मार्ग को तय नहीं कर पाता—

जिन्हें मंजूर मंजिल होती है,
वे कब आह भरते हैं।
सफर अंजाम जिनके जीवन का,
थकते न वे आराम करते हैं॥
इश्क में तनहाई होती है मगर,
दिल को याद से आबाद रखते हैं।

अज्ञान की दो शक्तियाँ मानी जाती हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति स्वरूप को ढकने का कार्य करती है तथा विक्षेप शक्ति जगत को अन्यथा प्रतीति कराती है। ज्ञान होने पर आवरण तो भंग हो जाता है, किन्तु विक्षेप शक्ति का कार्य समाप्त नहीं होता वह प्रारब्ध कर्मवश चलता ही रहता है। वृत्तियों का समूलोन्मूलन होने पर विक्षेप शक्ति नष्ट होती है तभी कैवल्य होता है। गौड़पादाचार्य इसे चरम मुक्ति कहते हैं। अर्थात् इसके बाद फिर जन्म और मृत्यु नहीं होते। कैमरे में जैसे अन्दर लाइट आ जाने पर फोटो नैगेटिव ही रह जाता है, पोजिटिव नहीं हो पाता। उसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश होने पर ज्ञानी के हृदय में जगत् के सुख-दुःख भासित तो होते हैं, किन्तु उसका चित्र नहीं बनता। ज्ञान होने पर स्वेच्छा से शरीर धारण करने की सम्भावना बन जाती है। काकभुशुण्ड के अनेक जन्म हुए, किन्तु सभी जन्मों में उन्हें ज्ञान बना रहा। जब तक विभिन्न शरीरों के प्रारब्ध भोग को उन्होंने भोगकर योग-ध्यान-समाधि द्वारा नष्ट नहीं कर दिया तब तक वे मुक्त नहीं हुए। संचित कर्म से भावी जन्म होता है। संचित कर्म समाप्त तो भावी जन्म भी समाप्त।

ज्ञान भी प्रारब्ध कर्म के बिना नहीं होता। जब ज्ञान हो जाता है तो अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। प्रारब्ध कर्म को फलीभूत करने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुष की सङ्कल्प-शक्ति तथा श्री सद्गुरुदेवजी की कृपा से ज्ञान की चिनगारी बीजरूप से प्राप्त हो जाती है, किन्तु जब तक उसे पुरुषार्थरूपी हवा नहीं मिलेगी, तब तक पूरी तरह सुलग नहीं सकेगी। साधना को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करने के लिए पुरुषार्थ की नितान्त आवश्यकता है। प्रारब्धवश सद्गुरु की कृपा प्राप्त हो जाती है, किन्तु बिना पुरुषार्थ के कृपा पूरा कल्याण नहीं करती। 'कछु करनी, कछु करमगति, कछु पूर्वजन्म का लेख' सब मिलकर फलदायी बनते हैं। दवा के साथ

चितवृत्तियाँ

❀ श्री डा० कृष्णकान्त शर्मा

योग का लक्षण प्रस्तुत करते हुए महर्षि पतंजलि ने कहा है–'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[१] अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। वाक्यार्थ ज्ञान के प्रति पदार्थ ज्ञान कारण होता है; अतः 'चित्तस्य वृत्तयः=चित्तवृत्तयः, तासां निरोधः=चित्तवृत्ति निरोधः, स योगः।' इस वाक्य के अर्थबोध के लिए चित्त क्या है और उसकी वृत्तियाँ क्या हैं? इसका ज्ञान अपेक्षित है। इसी प्रसंग में चित्त एवं उसकी वृत्तियों का स्वरूप यहाँ पर प्रस्तुत है।

चित्त—अन्तःकरण सामान्य को ही चित्त कहा गया है। सांख्य-शास्त्र में मन-बुद्धि और अहंकार के भेद से अन्तःकरण तीन बताये गये हैं।[२] योग-शास्त्र में भी अन्तःकरण के इन तीनों भेदों को स्वीकार किया गया है। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इन तीनों के वाचक एक साधारण नाम की अपेक्षा से 'चित्त' शब्दका प्रयोग किया गया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार यद्यपि ये चारों भेद योग में स्वीकृत हैं तथापि वृत्ति रूप से एक ही अन्तःकरण के ये चारों भेद हैं। अतः योगशास्त्र में अन्तःकरण सामान्य ही 'चित्त' पद से बोधित होता है।[३] आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी 'चित्त' शब्द को बुद्धि या अन्तःकरण का उपलक्षण माना है।[४]

यद्यपि सांख्य-मतानुसारेण सभी जड़-पदार्थ त्रिगुणात्मक होते हैं। अतः चित्त भी त्रिगुणात्मक है तथापि चित्त में सत्वगुण की बहुलता होती है। इसीलिए प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति इन तीनों धर्मों से युक्त अर्थात् त्रिगुण होने पर भी चित्त वस्तुतः प्रख्या अर्थात् ज्ञानबहुल होता है। प्रख्या या प्रकाश या ज्ञान सत्वगुण का लक्षण है। अतः चित्त को प्रख्या रूप

१. पातञ्जल योग-सूत्र। १/२
२. 'अन्तःकरण त्रिविधम्....' (सांख्यकारिका ३३)
३. 'चित्तमन्तःकरण सामान्यम्' (योगवार्तिक, पा० यो० सू० १/२ पर)
४. 'चित्तशब्देनान्तःकरण बुद्धिमुपलक्षयति'—(तत्त्व वैशारदी पा० यो० सू० १/१ पर)

(पिछले पृष्ठ का शेष)

अनुपान और पथ्य नहीं है तो रोग नष्ट नहीं होगा। दवा का पूरा फायदा पथ्य और अनुपान के सहयोग से होगा। योगवाशिष्ठ में योगिराज वशिष्ठ कहते हैं कि हे राम! पुरुषार्थ ही देव है, प्रारब्ध तो कारणमात्र है। प्रारब्धवश योग-प्रवृत्ति होती है, किन्तु पुरुषार्थ द्वारा ही फल प्राप्ति होती है। योग साधक के मन में यह दृढ़ सङ्कल्प हो 'कार्यं वा साधयेयम्, शरीरं वा पातयेयम्' या तो कार्य सिद्ध करके रहूँगा या देहपात कर दूँगा, समाधि के लिए पुरुषार्थ की परमावश्यकता है। प्रारब्ध प्रेरणादायक हो सकता है, किन्तु पुरुषार्थ ही फलदायक होता है। पुरुषार्थ द्वारा तत्व-ज्ञान होता है। तत्व-ज्ञान से मनोनाश और मनोनाश से वासनाक्षय होता है। इन तीनों से कैवल्य स्थिति होती है।

अर्थात् प्रकाश रूप कहा गया है। इस सत्व-बहुलता को प्रकट करने की दृष्टि से ही चित्त को 'चित्त सत्व' नाम दिया गया है। चित्त-सत्वम् अर्थात् सत्व बहुल चित्तम्, सत्व प्रधानं चित्तम्। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा है—'चित्त-रूपेण परिणतं सत्त्वं चित्तसत्त्वम्, तदीयं प्रख्या रूपतया सत्त्वप्राधान्यं चित्तस्य दर्शितम्।'१

यद्यपि चित्त सत्त्वबहुल है तथापि इसमें प्रवृत्ति अर्थात् क्रिया आदि समस्त राजस गुण एवं स्थिति अर्थात् क्रियाराहित्य एवं प्रकाश-राहित्य आदि समस्त तामस गुण विद्यमान होते हैं। जब चित्त सत्त्व गौण रूप से विद्यमान रजोगुण और तमोगुण से संसृष्ट होता है तब चित्त सांसारिक ऐश्वर्य तथा शब्दादि विषयों का प्रेमी होता है। इस अवस्था में रजस् और तमस् सत्त्व की अपेक्षा तो गौण रहते हैं, परन्तु परस्पर बराबर मात्रा में अभिव्यक्त होते हैं।२

वही चित्त तमोगुण से अनुविद्ध होकर अर्थात् रजोगुण की मात्रा दब जाने पर और तमस के उद्रेक हो जाने पर अधर्म, अज्ञान और अनैश्वर्य की ओर जाने लगता है।

वही चित्त जब इस मूढ़ावस्था के कारण फैले हुए मोहावरण से रहित हो जाता है तब सत्त्व गुणकृत प्रकाश से युक्त होता है। किन्तु बीच-बीच में रजोगुण की मात्रा की अभिव्यक्तियों से धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर भी उन्मुख होता रहता है।

वही चित्त जब उस रजोगुण के लेशमात्र मल से भी रहित हो जाता है तब वह अपने सत्त्वात्मक स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। उस समय चित्तसत्त्व और पुरुष की अन्यता का ही बोध होता है। चित्त केवल विवेकख्याति रूप रहता है और धर्ममेघ नामक समाधि की ओर उन्मुख होता है। उस धर्ममेघ को योगी लोग पर प्रसंख्यान कहते हैं, यह विवेक ख्याति की ही पराकाष्ठा है।३ धर्ममेघ शब्द का निर्वचन करते हुए योग-वार्तिककार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने कहा है—

क्लेशकर्मादीनां निःशेषेणोन्मूलकं धर्मं मेहतिनर्वर्तति इति धर्ममेघः।४

इस प्रकार हमने देखा कि यह चित्त त्रिगुणात्मक होते हुए भी सत्त्व बहुल होने के कारण धर्ममेघाख्य समाधि तक पहुंचने में सक्षम होता है।

मन, बुद्धि और अहङ्कार इन तीन अन्तःकरण रूप चित्त में मन का काम है—यह ऐसा है, ऐसा नहीं है—इस प्रकार सङ्कल्प-विकल्प करना। इसीलिए सङ्कल्प करने वाले

१. तत्त्व वैशारदी—पा० यो० सू० १/२ पर
२. वही।
३. "तद् धर्म मेघाख्यं ध्यानं परमं प्रसंख्यानं तत्त्वज्ञानं विवेकख्यातेरेव पराकाष्ठेति योगिनो वदन्ति।"—(योगवार्तिक, पा० यो० सू० १/२)
४. योगवार्तिक—पा० यो० सू० ४/२९ पर।

को मन कहते हैं। यह मन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों एवं पञ्च कर्मेन्द्रियों के अतिरिक्त होते हुए भी उभयात्मक है अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का प्रवर्तक होने से वह ज्ञानेन्द्रिय है और कर्मेन्द्रियों का प्रवर्तक होने से कर्मेन्द्रिय भी है। मन को इन्द्रिय इसीलिए माना गया है कि एक ही सात्त्विक अहंकार मन और अन्य इन्द्रियों का उपादान कारण है।

बुद्धि का काम है निश्चय करना। यह घट है, यह पट है—इस प्रकार निश्चय करना बुद्धि का काम है। अब यह प्रश्न उठता है कि बुद्धि तो जड़ है, अचेतन है, तब वह निश्चय कैसे कर सकती है? इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार स्फटिक और जपाकुसुम को पास-पास रखे जाने पर स्फटिक जपाकुसुम के लौहित्य को प्राप्त कर लेता है। ठीक उसी प्रकार चैतन्य के सन्निधान से बुद्धिभी चैतन्य को प्राप्त कर लेती है। बुद्धि का असाधारण व्यापार अध्यवसाय ही है।[1]

'अहमस्मि' = मैं हूँ—इत्याकारक अभिमान को ही अहंकार कहते हैं। जिस वस्तु को या कार्य को बाह्येन्द्रियों से देखा, पश्चात् मनके द्वारा विशेष रूप से सोचा, उस वस्तु या कार्य में मैं समर्थ हूँ, यह वस्तु या कार्य मेरा उपकारक है, मेरे अतिरिक्त कोई अन्य इसका अधिकारी नहीं है, मैं ही इसका अधिकारी हूँ। इस प्रकार का जो अभिमान या ज्ञान-विशेष है वही अहंकार है। अहंकार का आश्रय कर बुद्धि अपना अध्यवसाय रूप व्यापार करती है। इन मन, बुद्धि और अहङ्कार रूप अन्तःकरणों की ही एक साधारण संज्ञा चित्त है।

वृत्ति—चित्त के सामान्य निरूपण के अनन्तर चित्त की वृत्ति क्या है? इस पर विचार प्रसंग प्राप्त है। जिस-जिस स्थिति या रूप में रहता है अर्थात्—परिणत होता रहता है, वे स्थितियाँ चित्त की वृत्तियाँ कहलाती हैं। क्योंकि जिस रीति या क्रिया से रहा जाय, रहने की वह रीति या क्रिया ही वृत्ति कहलाती है। 'वर्तते अनया इति वृत्तिः' इस प्रकार वृतु वर्तने धातु से करण अर्थ में क्तिन् प्रत्यय करने से वृत्ति शब्द निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति से भी चित्त की वह अवस्था विशेष ही वृत्ति कहलाती है। चित्त अनेक रूपों में परिणत होता रहता है, इसीलिये चित्त की वृत्तियाँ वस्तुतः असंख्य हैं, किन्तु सत्त्वादि गुणों के प्राधान्य के अनुसार उनका विभाजन तीन मुख्य श्रेणियों में किया जा सकता है।

(१) सात्त्विक वृत्तियाँ—जिनमें सत्त्वगुण का प्राधान्य है और रजोगुण तथा तमोगुण गौण हों।

(२) राजस वृत्तियाँ—जिनमें रजोगुण का प्राधान्य हो और सत्त्वगुण तथा तमोगुण अप्रधान हों।

(३) तामस वृत्तियाँ—जिनमें तमोगुण का प्राधान्य हो और सत्त्वगुण तथा रजोगुण उससे अभिभूत है। यहाँ यह अवधेय है कि

१. सांख्य-तत्त्व कौमुदी—सां० का० २३ पर

गुण अन्योन्याभिभव, अन्योन्याश्रय, अन्योन्यजनन तथा अन्योन्यमिथुन वृत्ति होते हैं।

ज्ञान के रूप भेद के आधार पर चित्त-वृत्तियों का विभाजन पुनः पाँच प्रकारों में किया गया है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। यद्यपि विषयसापेक्ष चित्त-वृत्तियाँ विषयों के आनन्त्य के कारण असंख्य प्रकार की हैं, तथापि योगसूत्र के निर्माता पतञ्जलि ने उपर्युक्त पाँच वृत्तियों में ही अन्य सभी वृत्तियों का अन्तर्भाव किया है।

वृत्तियों की जातियाँ—ज्ञानात्मक वृत्तियों की दो जातियाँ हैं-क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट।[१] चित्त के रजोगुण एवं तमोगुण बहुल होने पर क्लिष्टात्मक प्रमाणादि वृत्तियों का उदय होता है और चित्त की सात्त्विक दशा में अक्लिष्टात्मक प्रमाणादि वृत्तियों का उदय होता है। क्लिष्ट वृत्तियों के समय चित्त चञ्चल एवं व्यथित रहता है और अक्लिष्ट वृत्तियों के समय चित्त शान्त स्वभाव होकर सुख का अनुभव करता है। क्लेशमूलक प्रमाणादि क्लिष्ट वृत्तियाँ कर्माशय को पुष्ट करती हैं। दूसरी तरफ प्रकृति तथा पुरुष के भेदज्ञान को उत्पन्न करने वाली अक्लिष्ट वृत्तियाँ गुणाधिकार की विरोधिनी होने से कर्माशय को शिथिल करती हैं। इसीलिए भाष्यकार व्यास तथा आचार्य वाचस्पतिमिश्र आदि ने अक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा दुःखदायिनी क्लिष्ट वृत्तियों के निरोध के लिए कहा है। मुमुक्षुओं के लिये गुणात्मक अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध अपेक्षणीय बतलाया है, अतः योग-मार्ग का साधक सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप सर्वोत्तम अक्लिष्ट वृत्ति का भी परवैराग्य के द्वारा निरोध करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसके भी निरुद्ध होने पर सर्ववृत्ति निरोधरूप असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। असंप्रज्ञात समाधि के सिद्धि काल में साधक की जीवन्मुक्त अवस्था रहती है, और देहपात के पश्चात् विदेहमुक्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार सांख्ययोग शास्त्र में क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट दोनों ही जातियों की वृत्तियों के निरोध का उपदेश दिया गया है।

प्रमाणवृत्ति—प्रमाणवृत्ति विपर्यय आदि चार वृत्तियों की आधारशिला होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है। 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा प्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे प्रमाण कहते हैं। विज्ञानभिक्षु तथा आचार्य वाचस्पति मिश्र ने प्रमाण का लक्षण करते हुए इस प्रकार कहा है कि अज्ञात् तत्त्व का पौरुषेय अर्थात् पुरुष को होने वाला ज्ञान ही प्रमा है और उस प्रमा का कारण प्रमाण-नामक वृत्ति है—

अनधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहार हेतुः प्रमा, तत्करणं प्रमाणम्।[२]

पातञ्जल योग-शास्त्र में प्रमाणों की संख्या

---

१. 'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः'—पा० यो० सू० १/५

२. तत्त्व वैशारदी—पा० यो० सू० १/७ पर

तीन बताई गई है।[१] प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण तथा आगम या शब्द प्रमाण। तीन प्रकार के प्रमाणों से तीन प्रकार की प्रमायें उत्पन्न होती हैं—प्रत्यक्ष प्रमा, अनुमति प्रमा तथा शाब्द प्रमा। प्रमाण वृत्ति को छोड़कर विपर्यय आदि किसी भी वृत्ति से प्रमा उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि विपर्यय आदि वृत्तियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में अनधिगत एवं अबाधित अर्थ विषयता नहीं रहती है। अतः प्रत्यक्षादि तीनों प्रमाणों से ही प्रमा-ज्ञान हो सकता है। सांख्ययोग शास्त्रमें प्रमा पुरुषनिष्ठ होने के कारण 'पौरुषेय बोध' नाम से अभिहित होता है।

ज्ञानोत्पत्ति के लिए पातंजल योग-शास्त्र में अन्य शास्त्रों में प्रचलित विधि से पूर्णतया भिन्न विधि बताई गई है जो अनुभव सिद्ध है।

प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति—प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण करते हुए भाष्यकार व्यासदेवजी ने कहा है-"इन्द्रिय प्रणालिकया चित्तस्य बाह्य-वस्तु परागात् तद् विषया सामान्यविशेषा-त्मनोऽर्थस्य विशेषावधारण प्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणमिति।"[२] अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय-रूपिणी प्रणाली नाली या नली अर्थात् माध्यम से चित्त का बाह्य वस्तु से सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क से चित्त उस बाह्यवस्तु के आकार में आकारित हो जाता है। विषयाकाराकारित चित्तवृत्ति ही पौरुषेय बोध के प्रति कारण है। पातंजल योग-दर्शन के सभी व्याख्याकारों ने चित्त का विषयाकार परिणाम एक ही पद्धति से सिद्ध किया है। जिस प्रकार बांध आदि द्वारा रोका हुआ नदी का जल कृषक द्वारा बनाये गये मार्ग से खेतमें प्रविष्ट होकर क्यारियों का आकार धारण करता है। ठीक उसी प्रकार सत्वगुण प्रधान तो जो द्रव्य चित्त भी इन्द्रियरूपी नली के द्वारा विषय के पास तक जाकर उसी विषय के आकार में आकारित हो जाता है। विषय के आकार में होने वाले चित्त के उस परिणाम को ही चित्त की वृत्ति कहते है और यही प्रत्यक्ष प्रमाण है। यहाँ यह अवधेय है कि बुद्धि जिस पदार्थ के आकार में आकारित होती है वह पदार्थ चूंकि सामान्य और विशेष धर्मों से युक्त होता है। अतः बुद्धि भी उस पदार्थ के उभयाकार से आकारित होती है। किन्तु प्रधानता उसमें विशेष वाले आकार की ही होती है। पदार्थ के विशेष धर्म का प्रधान रूप से निश्चय करने वाली जो यह बुद्धि वृत्ति बनती है, इसको प्रत्यक्ष प्रमाण नामक वृत्ति कहते है। प्रत्येक पदार्थ में कुछ तज्जातीय धर्म होते हैं और कुछ उसके वैयक्तिक धर्म। इसीलिए प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मा होता है। यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण से पदार्थ के सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के धर्मों का बोध होता है तथापि विशेष धर्मों का अवधारण कराने में ही प्रत्यक्ष प्रमाण प्रधान रूप से कृतसंरम्भ होता है। इसीलिए आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं—

---

१. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि—पा० यो० सू० १/७
२. व्यास भाष्य— पा० यो० सू० १/७ पर

यद्यपि सामान्यमपि प्रत्यक्षे प्रतिभासते तथापि विशेषं प्रति उपसर्जनीभूतमित्यर्थः ।१

यहाँ पर यह अवधेय है कि सांख्य योग-शास्त्र में न्याय-शास्त्र के समान इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना है। इस शास्त्र में तो इन्द्रियाँ केवल नाली-प्रणाली या माध्यम हैं, जिनमें से होकर बुद्धि बाह्य वस्तु से उपराग या तदाकाराकारित रूप सम्पर्क करती है। इसी आशय को सांख्यकारिका में भी स्पष्ट किया गया है—

सान्तःकरणाबुद्धिः सर्वं
विषमभवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं कारणं द्वारि,
द्वाराणि शेषाणि ॥२

इस प्रकार स्पष्ट है कि बुद्धिनिष्ठ ज्ञान अर्थात् बुद्धि-वृत्ति ही प्रमाण है। जब पुरुष उस ज्ञान को अपनाता है अर्थात् उस ज्ञान का ज्ञाता बनता है, तब वह ज्ञान पुरुषगत या पौरुषेय कहा जाता है। यह पौरुषेय ज्ञान प्रमाण है और यही प्रमाणरूपी करण का फल है। आशय यह है कि बुद्धिनिष्ठ ज्ञान प्रमाण होता है और पुरुषोपरक्त ज्ञान प्रमा।

अब यहाँ स्वभावतः यह शङ्का उठती है कि पुरुष तो असंग है, उसमें यह प्रमा कैसे रह सकती है? इसका समाधान यह है कि पुरुष उस बुद्धिनिष्ठ ज्ञान का अभिमान मात्र होता है। वस्तुतः यह पुरुष तो अविकृत और असंग ही रहता है। पुरुष के इस अभिमत ज्ञान को ही पौरुषेय बोध कहते हैं। यही प्रमा कही जाती है। बुद्धिस्थ ज्ञान अर्थात् बुद्धि-वृत्ति का अभिमान मात्र करने के कारण ही वस्तुतः असंग और निर्लेप रहता हुआ भी पुरुष साक्षी और द्रष्टा या भोक्ता कहा जाता है। इस वृत्त्याभिमान की प्रक्रिया के विषय में सांख्ययोग के दो प्रमुख आचार्यों—आचार्य वाचस्पति मिश्र एवं आचार्य विज्ञानभिक्षु में तीव्र एवं सुस्पष्ट मतभेद है। उनके एतद् विषयक मतभेद क्रमशः इस प्रकार हैं—

आचार्य वाचस्पति मिश्र का मत—(Sin le Reflec ion Theor) जड़ होने के कारण बुद्धि स्वतः किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं कर सकती, अर्थात् वस्त्वाकाराकारित नहीं हो सकती। इसीलिये सर्वप्रथम वह चितिच्छायापत्तिके कारण स्वयं चेतनवत् बनती है अर्थात् सन्निहित पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे वह चेतनवत् हो जाती है। इसके फलस्वरूप वह पदार्थाकाराकारित होकर पदार्थ ज्ञान से युक्त होती है। बुद्धि की इस रूप की स्थिति प्रमाणादि वृत्ति कही जाती है। अब जो चितिच्छाया या पुरुष प्रतिबिम्ब उसमें है वही पुरुष प्रतिबिम्ब उस चित्तवृत्ति का साक्षी, द्रष्टा या भोक्ता बनता है अर्थात् उस वृत्ति का अभिमान

१. तत्त्व वैशारदी—पा० यो० सू० १/७ पर
२. सां० का० ३५

करता है। प्रतिबिम्ब रूप पुरुष के द्वारा अभिमत यही बोध पौरुषेय बोध या प्रमा कहलाता है।१ प्रकृति-पुरुष को इसी रूप का भोग अर्पित करती है। चूँकि इस प्रक्रिया में प्रथम चितिच्छायापत्ति रूप केवल एक ही प्रतिबिम्ब स्वीकार किया गया है। इसीलिए इस सिद्धान्त को "एक प्रतिबिम्बवाद" (Single Reflection Theory) कहते हैं।

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत—आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार जिस प्रकार विषयाकाराकारित चित्त में पुरुष प्रतिबिम्ब होता है, उसी प्रकार पुरुष में सुख दुःख आदि विषयिणी चित्तवृत्ति प्रतिबिम्बित होती है। इसी कारण पुरुष सुख-दुःख आदि वृत्ति वाला कहा जाता है। पुरुष की यह विषयाकारता अभिमान रूप है। बुद्धि की विषयाकारता परिणाम रूप है।२ पुरुष की अभिमानात्मक अर्थाकारता अर्थग्रहण या बोधरूप है। स्फटिक में प्रतिफलित जपाकुसुम की भाँति उपरक्त रूप नहीं। इस प्रकार इस प्रक्रिया में पुरुष-प्रतिबिम्ब और चित्तवृत्ति प्रतिबिम्ब में दो प्रतिबिम्ब स्वीकार किये जाने के कारण इस सिद्धान्त को द्विप्रतिबिम्बवाद या परस्पर प्रतिबिम्बवाद (Double Reflection Theory) कहते हैं। बुद्धि चितिच्छायापत्ति-बलात् वस्तु-संवेदिनी होती है और इस बुद्धिकृत संवेदन का प्रतिसंवेदन करने के कारण पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी कहा गया है।

अनुमान प्रमाणवृत्ति—अनुमान व्याप्तिमूलक होता है। दो वस्तुओं के नियत सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जैसे धूम के साथ अग्नि का व्याप्ति सम्बन्ध है। धूम एवं अग्नि के व्याप्ति-सम्बन्ध को जानने वाला व्यक्ति जब दूर से पर्वत आदि पर धूमरेखा को उठता हुआ देखता है, तब उसकी "अयं पर्वतो वह्निमान्" इस प्रकार की चित्तवृत्ति बनती है, इसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। तदनन्तर उक्त चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित पुरुष को अहं वह्निमनुमिनोमि इत्याकारक ज्ञान होता है, इसे अनुमति प्रमा कहते हैं। अनुमान प्रमाण से पर्वत आदि पक्ष में रहने वाले अग्नि आदि साध्य के सामान्य रूप का ही ज्ञान होता है। इसीलिये अनुमान को सामान्यावधारणप्रधान वृत्ति कहते हैं।

व्याप्ति दो प्रकार की होती है—अन्वय-व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति। अन्वयव्याप्ति के द्वारा गतिशील मनुष्य के समान तारों के भी एक देश से दूसरे देश में दिखलाई पड़ने से तारों की गतिशीलता अनुमित होती है। व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा विन्ध्य पर्वत का स्थानान्तरण न होते देखकर उसकी गतिशून्यता अनुमित होती है।

शब्दप्रमाण वृत्ति—भ्रम, प्रमाद, प्रवञ्चना, इन्द्रियों का असामर्थ्य आदि दोषों से रहित आप्त पुरुष अपने ज्ञान को शब्दोपदेश द्वारा दूसरे में संक्रमित करता है। तदनन्तर आप्त-

१. तत्त्व वैशारदी—पा० यो० सू० १/७ पर
२. व्यास भाष्य—पा० यो० सू० १/७ पर

वक्ता के शब्दों को सुनकर श्रोता की शब्दार्थ विषयिणी चित्तवृत्ति बनती है, इसे आगम-प्रमाण या शब्द-प्रमाण कहते हैं। तदनन्तर शब्दाकाराकारित वृत्ति से अवच्छिन्न हुए प्रतिबिम्बित पुरुष को शाब्द बोध शाब्द-प्रमा = पौरुषेय बोध होता है। चूँकि अविश्वस्त व्यक्ति का कथन प्रत्यक्ष एवं अनुमान से बाधित होता है, इसीलिए उसका वचन या शब्द प्रमाण नहीं होता है।

विपर्यय वृत्ति—विपर्यय मिथ्या ज्ञान को कहते हैं।१ इसमें वस्तु के वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति न होने से वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता है। नेत्र रोग से ग्रस्त व्यक्ति को सूर्य की किरण के सम्पर्क से चम-चमाती हुई शुक्ति दूर से रजत दिखलाई पड़ती है और उसकी 'यह रजत है' इत्या-कारक वृत्ति बनती है। इस बुद्धि-वृत्ति में प्रतिबिम्बित पुरुष को मैं रजत जान रहा हूँ—इत्याकारक बोध होता है। इस ज्ञान में जिस विशेषण तथा विशेष्य वाला रूप प्रतिभासित हो रहा है, उसका उत्तरकालिक यथार्थ ज्ञान से बोध हो जाता है।

विपर्यय वृत्ति के अन्तर्गत संशय का भी ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि संशय ज्ञान की 'स्थाणु' के ज्ञान-काल में स्थाणु से भिन्न 'स्थाणु-पुरुष'—इस प्रकार उभयाकार में प्रतिष्ठित होता है। अर्थात् संशय ज्ञान की वृत्ति स्थाण्वाकार होने के स्थान पर स्थाणु-पुरुषाकार होती है। इस प्रकार विपर्यय-वृत्ति भ्रान्ति एवं संशय दोनों को अन्तर्भावित करती है।२ इस वृत्ति को अविद्या भी कहते हैं। इसके पाँच पर्व या अङ्ग बताये गये हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभि-निवेश। अविद्या के इन पाँचों पर्वों को पाँच क्लेश भी कहते हैं। ये क्लेश चित्त के मल हैं, स्मृतियों में इनके नाम—तमस्, मोह, महा-मोह, तामिस्र एवं अन्धतामिस्र भी दिये गये हैं।

विकल्प वृत्ति—विकल्प वृत्ति निर्वस्तुक एवं शब्द-ज्ञान से उत्पन्न कही गई है।३ जैसे गगन-कुसुम, शशशृङ्ग आदि शब्दों को सुनने के बाद उत्पन्न अलीक पदार्थ विषयक ज्ञान विकल्प वृत्ति है। विकल्प वृत्तिजन्य ज्ञान विपरीत बुद्धि से बाधित नहीं होता है। विपरीत बुद्धि के पश्चात् भी विकल्पात्मक व्यवहार चलता रहता है। अर्थात् गगनकुसुम नामक कोई वस्तु परमार्थतः नहीं है—इस प्रकार विपरीत बुद्धि रहने पर भी गगनकुसुम इत्याकारक श्रावण प्रत्यक्ष से तद् विषयक विकल्पात्मक वृत्ति बनती है।

उक्त विकल्प वृत्ति का अन्तर्भाव प्रमाण वृत्ति में नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रमाण वृत्ति यथार्थ विषयिणी और विकल्प वृत्ति अयथार्थ विषयिणी है। प्रमाणवृत्ति का विषय

---

१. 'विपर्ययो मिथ्या ज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठम्'—पा० यो० सू० १/८
२. तत्व वैशारदी—पा० यो० सू० १/८ पर
३. 'शब्द ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः—पा० यो० सू० १/९।

सत्य है, विकल्प वृत्ति का विषय अलीक है। विषय की अत्यन्त विमालीयता के कारण विकल्प वृत्ति का अन्तर्भाव प्रमाण वृत्ति में सम्भव नहीं है।

विकल्प वृत्ति का अन्तर्भाव विपर्यय वृत्ति में भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह शब्द-ज्ञान् से उत्पन्न होती है और व्यवहार में अबाधित रहती है।१

निद्रावृत्ति—चित्त की तीन अवस्थायें होती हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत तथा स्वप्न वृत्तियों के अभाव के कारणभूत तमोगुण को विषय बनाने वाली वृत्ति निद्रा है।२ यह निद्रा वृत्ति जागने पर स्मरण होने के कारण एक प्रकार का ज्ञान ही है, क्योंकि मैं सुख से सोया, मेरा मन प्रसन्न है या मैं बहुत बेचैनी से सोया, मेरा मन अकर्मण्य हो रहा है, चंचल होकर भ्रमित हो रहा है। मैं खूब गहरी नींद सोया, मेरा शरीर भारी हो रहा है, मेरा चित्त थका हुआ है और खोया-खोया सा है। जागे हुए प्राणी को इस प्रकार का ज्ञान होता है। बिना अनुभव की स्मृति नहीं है। अतः निद्रा एक विशेष प्रकार का ज्ञान (वृत्ति) ही है।

यहां पर एक शङ्का उपस्थित होती है कि भिन्न-भिन्न विषय वाली वृत्तियों के निरोध-पूर्वक चित्त का ध्येयाकार परिणाम सम्प्रज्ञात योग और केवल तमोविषयिणी चित्तवृत्ति निद्रा है। चित्त की एकाग्रावस्था में निद्रा-वृत्ति का उदय होता है, क्योंकि इस समय चित्त एकमात्र तमोरूप ध्येय पदार्थ के आकार में ही परिणत होता है। अतः एकाग्र चित्त की तमस के आकार वाली निद्रा को भी क्या सम्प्रज्ञात योग कहना चाहिए? इसका समाधान यह है कि सम्प्रज्ञात योगकालिक चित्त की ध्येयाकारता और निद्राकालिक चित्त की ध्येयाकारता भिन्न है। योग में ध्येयाकारता प्रयत्न सापेक्ष है, निद्रा में ध्येयाकारता निरपेक्ष है। योग की ध्येयाकारता में चित्त सत्वगुण प्रधान और निद्रा की ध्येयाकारता में तमोगुण प्रधान होता है। निद्रामें तमसाच्छन्न होने के कारण चित्त की क्रियाशीलता रुक जाती है। इस कारण यह भी एक प्रकार की स्थिरता है, परन्तु चित्त की यह स्थिरता समाधिकाल की स्थिरता से कुछ भिन्न है। निद्रा अवश तथा अस्वच्छ स्थिरता है, समाधि स्ववश तथा स्वच्छ स्थिरता है। स्थिर किन्तु अस्वच्छ जल के समान निद्रा होती है। स्थिर तथा अत्यन्त निर्मल जल के समान समाधि होती है। अतः चित्त की मूढ़ावस्था में होने वाली चित्तवृत्ति एकाग्रकालिक के समकक्ष नहीं हो सकती। निद्रा तामसी होनेके कारण सम्प्रज्ञात समाधि के विरुद्ध है।

स्मृति वृत्ति—अनुभूत विषय की चित्त में उपस्थिति स्मृति नामक वृत्ति है। "अनुभूत विषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।" अब समस्या यह है कि अनुभूत विषय की चित्त में जो उप-

१. नापि विपर्यये, तस्य शब्द ज्ञानानुपातित्वात्—यो० सू० पृ० ६
२. अभाव प्रत्ययालम्बनावृत्ति निद्रा—पा० यो० सू० १/१०

स्थिति है, उसमें विषय की उपस्थिति होती है अथवा विषय के अनुभव ज्ञान की। इसके समाधान के लिए पहले स्मृति की प्रक्रिया को स्पष्ट करना आवश्यक है। अनुभव काल में ग्राह्य विषय से उपरक्त या उपरञ्जित ही ज्ञान होता है। इसीलिये वह घटा-अनुभव रूप ज्ञान ग्राह्य विषय घटादि तथा ग्रहणात्मक अनुभव—इन दोनों के आकार में भासित होता है। ग्राह्य ग्रहण इन दोनों रूपों के होने के कारण तत्सदृश ही संस्कारों को उत्पन्न करता है, क्योंकि सांख्ययोग के अनुसार जो वस्तु स्वयं जैसी होती है, वह वैसा ही कार्य उत्पन्न कर सकता है।

घटादि विषयों से उत्पन्न ये संस्कार ही आगे चलकर स्मृति को उत्पन्न करते हैं, अब चूंकि ये संस्कार भी ग्राह्यग्रहणोभयाकार रूप के निर्मित हुए हैं। अतः ये विषय और अनुभव दोनों के आकार वाली स्मृति को उत्पन्न करते हैं।

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब अनुभव के तुल्य विषय वाली ही स्मृति है, तब अनुभव एवं स्मृति के रूप में ज्ञान का द्विविध विभाजन क्यों किया गया? इसका समाधान भाष्यकार व्यासदेवजी इस प्रकार करते हैं—'तत्र ग्रहणाकारपूर्वा, बुद्धि, ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः।' अर्थात् अनुभव अगृहीत पदार्थ को विषय बनाता है और स्मृति प्रमाणादि वृत्तियों से ज्ञान विषय वाली होती है। अतः अनुभव एवं स्मृति में समान विषमता रहने पर भी विषयों का अनधिगतत्व दोनों ज्ञानों को भिन्न सिद्ध करता है।

यह स्मृति दो प्रकार की होती है—(१) भावितस्मर्त्तव्या और (२) अभावितस्मर्त्तव्या। प्रमाणादि वृत्ति-जन्य संस्कारों से स्वप्नावस्था में होने वाली स्मृतिवृत्ति भावित स्मर्तव्या तथा जाग्रत अवस्था से होने वाली स्मृतिवृत्ति अभावितस्मर्तव्या है, क्योंकि स्वप्नकालिक स्मर्तव्य विषय मनःकल्पित तथा जाग्रतकालिक स्मर्तव्य विषय यथार्थ होता है। जैसाकि भास्वतीकार ने कहा है—

भावितानि कल्पितानि स्मर्तव्यानि यस्यां सास्वप्नेहि कल्पनया स्मृतविषया उद्भाव्यन्ते जाग्रे न तथा।

इस प्रकार चित्त जिन-जिन स्थितियों में या रूपों में विद्यमान रहता है या परिणत होता है उन रूपों को उपर्युक्त पांच वृत्तियों के अन्तर्गत रखा गया है। इन समस्त वृत्तियों का निरोध ही योग का चरम लक्ष्य है।

— लक्ष्मी उसी के लिए वरदान है जो उसे दूसरों के लिए वरदान बना देता है।

— बड़ी बात जो सरल तरीके से कही जाती है उच्च संस्कृति का सबूत होती है। —एमर्सन

जीवन का एकमात्र लक्ष्य—

परमात्मतत्त्व श्रीकृष्ण

श्री ब्रह्मचारी ओमप्रकाश

सभी जीवात्माओं के जीवन के एकमात्र लक्ष्य परमात्मा श्रीकृष्ण हैं। वही वास्तव में हम सबके आत्मा और प्रियतम हैं। वही चराचर में व्याप्त, सब भूतों के अन्तरात्मा ब्रह्म हैं। श्रीकृष्ण किसीके कल्पित भगवान् नहीं हैं। श्रीकृष्ण ब्रह्म-वाचक शब्द है अतएव श्रीकृष्ण परमात्मा के वाचक, परब्रह्म स्वयं भगवान् हैं। कुछ लोग उनको 'मानुषी तनुमाश्रित' समझकर उनकी अवज्ञा करते हैं, वे उनको ठीक समझ नहीं पाते। अनेक महापुरुषों ने मनुष्य देह धारण किया है, साधारण दृष्टि से वह सामान्य पुरुष ही जान पड़ते हैं, परन्तु यह हमारी बुद्धि में नहीं आता कि मनुष्य देह को कोई अति-मानव पुरुष आश्रय किये बैठा है। मायातीत पुरुष को जानने के लिए आवश्यक है कि हम प्राकृत गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करलें, अन्यथा उनको जानने का कोई अन्य उपाय नहीं है। अर्जुन के पास श्रीकृष्ण कितने दिनों तक रहे, अर्जुन ने उनको कितनी बार देखा, उनके साथ कितनी बार बातें कीं, तथापि श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन से कहा कि तुम मुझको देखते नहीं हो; केवल इतना ही नहीं, यह भी कहा कि मुझको देखने की शक्ति भी तुम में नहीं है। इससे जान पड़ता है कि उनको देखने के लिए सबको अर्जुन के समान दिव्य-दृष्टि प्राप्त करनी होगी। दिव्य-दृष्टि प्राप्त होने पर समझ में आ जायगा कि—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षीचेताः केवलोनिर्गुणश्च॥

वह देवता एक अद्वितीय, सब भूतों में गूढ़भाव से अवस्थित है। वह सर्वव्यापी और सबका अन्तरात्मा है, समस्त कर्मों का नेता, सब भूतों का आश्रय, साक्षीमात्र, चेता और सब प्रकार से गुण-सम्बन्ध शून्य है।

'कृष्ण' ब्रह्म या परमात्मा सब एक के ही निर्देशक हैं—

परमात्मा परब्रह्म,
निर्गुणं प्रकृतेः परः।
कारणं कारणानाञ्च
श्रीकृष्णोभगवान् स्वयम्॥

'कृष्ण' शब्द से शास्त्रों में परब्रह्म परमात्मा का ही बोध होता है। 'कृष्ण' शब्द ब्रह्म वाचक क्यों है? कृष्ण शब्द कृष धातु से बना है। कृषक का अर्थ है आकर्षण करना जो जीव को आकर्षित करते हैं किधर आकर्षण करते हैं? अपनी ओर जीव को खींच लेना उनका स्वभाव है। साधारणतः जीव विषयों की ओर अत्यन्त आकृष्ट होता है। जीव का मन क्षण भर भी विषय त्याग कर नहीं रह सकता है। उसका मन क्षण-क्षण में एक विषय से दूसरे विषय की ओर दौड़ता रहता है। इस प्रकार चञ्चल और विक्षिप्त स्वभाव होने के कारण वह व्यभिचारिणी स्त्री के समान पतित है। इस प्रकार विषय में विक्षिप्त, पतित मन को जो अपने चरण-प्रान्त की ओर खींचकर पवित्र करते हैं, त्रिगुण-पङ्क से उद्धार करते हैं, वही आनन्द-कन्द सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण हैं। अब

एक बार विचार कर देखो कि हमारा मन इतना चञ्चल क्यों है ? किसको पाने के लिए है ? शान्तिपूर्वक थोड़ा विचार करने पर यह समझ में आ जायगा कि आनन्द पाने के लिए ही मन एक विषय से दूसरे विषय में घूमता रहता है। आनन्द ही मन का उपभोग्य है, वही उसकी एकमात्र प्रिय एवं लोभनीय वस्तु है। आनन्द पाने की आशा से ही वह अस्थिर होकर जहाँ-तहाँ ठोकरें खाता फिरता है। मन आनन्द की खोज में भटकता तो है, पर उसे कहीं वह नहीं मिलता जिसे पाकर सदाके लिए तृप्त हो जाय और कह सके कि 'अब मैं तृप्त हो गया, पूर्ण काम हो गया, आनन्द में डूब गया, अब मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए।' जो मुझे प्राप्त करना था प्राप्त कर लिया। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि में वह वस्तुतः कुछ सुख पाता है, परन्तु वह सुख आनन्द बहुत ही कम है, क्षण-स्थायी है, हमारे मन का वह सदा के लिए तृप्त नहीं कर सकता। यही कारण है कि अतृप्त मन पुनः-पुनः लोभातुर के समान विषयों में आकृष्ट होता है। मन में अनुमान होता है कि इस बार उस परमानन्द की साक्षात् प्राप्ति होगी, परन्तु उसकी सारी कल्पनायें कल्पनामात्र रह जाती है और परमानन्द का स्पर्श भी नहीं घटित होता। वह भोग करते-करते समझने लगता है कि जो वस्तु वह खोज रहा था, जिस आशा से वह निकला था वह परमानन्द उसमें नहीं है, तनिक भी नहीं है। तब और दूसरी वस्तु की ओर वह चल पड़ता है। इस प्रकार जीवन भर दौड़-धूप करने पर भी वह प्रकृत वस्तु को प्राप्त नहीं कर पाता, केवल क्लान्ति से उसके मन-प्राण अवसन्न हो जाते हैं। वह नहीं समझ पाता कि उस परमानन्द का नित्य स्रोत उसके भीतर ही विद्यमान है। बाहर तो उसका आभास मात्र है, परन्तु हाय ! "नाभि गन्ध नाहीं जानत, ढूँढत व्याकुल होय।" वह जो अपनी ही गन्ध है, आत्मा के शुद्ध आनन्द की ज्योति है—वह अपने निकेतन के निभृत कुंज में नित्य विराजमान है, उसे वहाँ न खोजकर बाहर अन्वेषण करने से क्या हाथ आयेगा ?

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि-
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

जो आनन्द और चिन्मय रसमें परिपूरित अपने स्वरूप से अपनी शक्तियों के साथ गोलोक में विराजमान है, मैं उस अखिलात्मा आदि पुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ।

उस अखिलात्मा गोविन्द का भजन किए बिना कोई साक्षात् परमानन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता। वह आत्मा ही निखिल परमानन्द का आलय है। आनन्द ही आत्मा का स्वरूप है उसमें आनन्द के सिवा और कुछ नहीं है। यही कारण है कि आनन्द के प्रति सब जीवों में इतना आकर्षण होता है। इस आनन्द को ही लक्ष्य करके सभी जीव दौड़ लगा रहे हैं। वेदान्त पञ्चदशी में लिखा है—'इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः'—वह

आत्मा परमप्रेम का आस्पद है इसलिए यह आनन्दमय है। इसी कारण आत्मा के प्रति जीव का इतना स्वाभाविक और अत्यधिक प्रेम है।

हमारे महान् अहङ्कार के ठहरने का एक-मात्र स्थान यह आत्मा ही है। आत्मा के सम्बन्ध में हमारी अज्ञता ही हमारे इन कष्टों और दुःखों का कारण है। आत्मा को लेकर ही हमारी सारी संसार लीला है, आत्मा के कारण ही हमारी देह का अस्तित्व है और गृह-कर्म है, तथापि हम यह नहीं जानते कि आत्मा है क्या वस्तु ? आत्मा के न रहने पर संसार का कोई आकर्षण ही नहीं रहता। आदि, मध्य और अन्त में आत्मा ही रहता है। जगत् की जो कुछ सत्ता है, आत्मा को ही लेकर है। घट-घट में इस आत्मा का ही प्रकाश है। आत्मा ही जगत् के समस्त आनंद का केन्द्र है। हमारा जो कुछ भी प्रिय या प्रियतम है, हमारे सामने जो कुछ सौम्य, सौम्यतर या सर्वापेक्ष सुन्दरतम है, सब आत्मा को ही लेकर है। 'ब्रह्म वेदं सर्वमिति'-पादोऽस्य विश्वाभूतानि।' ये सारे भूत पर-मात्मा के एक पाद मात्र हैं अतएव यह आत्मा ही हमारा, तुम्हारा और विश्व का एकमात्र मूल है अपने आपको मनुष्य जो इतना प्रिय समझता है, इसका कारण यह कि आत्मा के समान और कोई वस्तु जगत् में प्रिय नहीं है। अपने प्रति जीव का जो इतना आकर्षण होता है, इससे भी आत्मा के प्रति जीव के अत्यन्त आकर्षण की सूचना मिलती है। मोहवश जब हम देह और स्त्री-पुत्रादि के प्रति आकर्षण अनुभव करते हैं तो वह काम कहा जाता है, और वह आकर्षण जब भगवान् को लक्ष्य करके होता है तब उसका नाम होता है प्रेम। परन्तु हृदय का वेग चाहे जिस ओर ही छूटे, वह सबको अपनी ही ओर खींचते हैं। यह आकर्षण ही जगत् का मोहन है। इसी कारण हम अपनी अभीष्ट वस्तु से मोहित होते हैं, जब काम्य वस्तुओं में भी हम उस मोहन का या उस सुन्दर का अनुभव करते हैं तब वह केवल मोहन या काम नहीं रह जाता, बल्कि वह अकाम-रमण या मदन मोहन बन जाता है। जगत् या वस्तु माया नहीं है। केवल अपनी स्वकीय माया या एक पर्दे के आवरण में ढका है। यही कारण है कि अज्ञानान्ध जीव सबमें मदन को देखता है, मदन मोहन की अनुभव नहीं करता, भोग्य वस्तुओं को देखता है, भज-भजनीय को नहीं देखता।

आनन्द की घनीभूत मूर्ति ही श्रीकृष्ण है। इसी कारण श्रीकृष्ण को सच्चिदानन्दविग्रह कहते हैं। आनन्द ही जीवमात्र को प्रिय है, अतएव श्रीकृष्ण भी सब जीवों के प्रियतम हैं। श्रीकृष्ण को गोपियों ने कहा था—'न खलु-गोपिकानन्दनो भवान्, अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' भवान् तनुभृतां किलबन्धुरात्मा।' तुम हमारे आत्मा हो, इसी कारण देहधारियों के तुम इतने प्रिय हो।

यह आनन्द जड़ पदार्थ या भावना मात्र नहीं है, यह नित्य चिन्मय रसस्वरूप में समस्त जीवों का जीवन है।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

(मुण्डकोपनिषद् से)

ब्रह्मादेवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्व्वविद्या प्रतिष्ठामथर्व्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

विद्वानों में सबसे पहला विद्वान् ब्रह्मा था जो कि प्रकृति के भौतिक नियमों का पूर्ण ज्ञाता और निपुण शिल्पी था। वह मनुष्य जाति का रक्षक था। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व को ब्रह्म-विद्या सिखलाई जो कि बाकी सब प्रकार की विद्याओं से श्रेष्ठ है।

अथर्व्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्व्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥

जो ब्रह्म-विद्या अथर्व ने ब्रह्मा से सीखी थी वही उसने अङ्गिरा को सिखलाई, अङ्गिरा ने फिर भारद्वाज (भरद्वाज गोत्री) सत्यवाह को सिखाई और सत्यवाह ने अङ्गिरस को बताई। इस प्रकार यह परम्परा से चली आई है।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ ।
कस्मिन्नु भगवो! विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥

शौनक नामक एक बड़ा सरदार बड़े विनीत भाव से अङ्गिरस के पास आया और पूछने लगा—"हे भगवन्! वह क्या है कि जिस एक के जान लेने से बाकी सब कुछ जाना हुआ हो जाता है?"

तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ।
ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥

उसने उत्तर दिया—"तुम्हें जानना चाहिए कि विद्याएँ दो प्रकार की हैं, जिनको ब्रह्म के जानने वाले ऋषि परा (अलौकिक) और अपरा (लौकिक) कहते हैं।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं ।
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा (स्वर विज्ञान) कल्प (अनुष्ठानिक विधि), व्याकरण, निरुक्त (भाषातत्व शास्त्र), छन्द, और ज्योतिष का पढ़ना अपरा विद्या है। परा विद्या वह है जिसके द्वारा अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं ।
सर्व्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा ॥

वह अविनाशी ब्रह्म न देखा जा सकता है, न पकड़ा जा सकता है, उसका न कोई मूल है, न कोई सांकेतिक विशिष्टता, न आँख है न कान, न हाथ है और न पैर, वह नित्य है, सर्वव्यापक है, सबके अन्दर है, सूक्ष्म है, अविनाशी है, उसे ज्ञानी पुरुष सब भूतों का स्रोत (कारण) समझते हैं ।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम् ॥

जिस प्रकार मकड़ी जाला बाहर निकालती और फिर उसे अपने अन्दर समेट लेती है, जैसे पृथ्वी से वनस्पति उगती है, जैसे सजीव शरीरों पर बाल उगते हैं, वैसे ही यह सकल ब्रह्माण्ड उस अविनाशी से निकलता है ।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥

जब वह परमात्मा सृष्टि का चिन्तन करता है, तो यह जगत्भौतिक आकार में प्रकट हो जाता है, और यहां से अन्न, प्राण, मन, सत्य, उत्पत्ति, पुण्य कर्म और अमरत्व विकसित होते हैं ।

यः सर्व्वज्ञः सर्व्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥

वह ब्रह्म सर्वज्ञ, और सर्वविद् है, उसकी क्रिया ही स्वयं ज्ञान है, उसी से भिन्न-भिन्न रूपों और नामों वाला यह भौतिक जगत् निकला है ।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥

सत्य सदा जीतता है, और झूठ की सदा हार होती है । सत्य वह मार्ग है जिस पर कि विद्वान् चलते हैं । कामनाओं से परितृप्त ऋषियों ने इसी मार्ग से सत्य के असीम सागर, ब्रह्म, में मोक्ष को प्राप्त किया है ।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥

वह सब भूतों से बड़ा, अतीव अद्भुत, अचिन्तनीय, सब सूक्ष्मतत्वों से अधिक सूक्ष्म है । वह सबसे दूर है, और साथ ही बिलकुल निकट भी है, नहीं नहीं, वह उन लोगों के आत्मा के भीतर पाया जाता है जिनके पास उसे यहां पृथ्वी पर देखने के लिए आँखें हैं ।

वर्तमान समस्यायें और योग

श्री डा० जीवनलाल शर्मा

इस भौतिक संसार में प्रत्येक प्राणी की सर्वोच्च इच्छा एवं एकमेव उद्देश्य चिरंतन सुख की प्राप्ति है। इसी सुख की प्राप्ति हेतु वह अहर्निश तेली के बैल की तरह विविध धन्धों में लगा रहता है। इसे हम मानव का दुर्भाग्य कहें अथवा परम प्रभु परमात्मा की लीला कि मानव इस सांसारिक माया के वशीभूत होकर उस सच्चे सुख को तो भूल जाता है और इस नश्वर एवं क्षणिक सुख की प्राप्ति में उलझ जाता है। परिणाम यह होता है कि वह इस सांसारिक क्षणिक सुख को ही सच्चा सुख मानकर इनकी प्राप्ति हेतु प्रयत्न करता हुआ धीरे-धीरे भगवान को भी भूलने लगता है। परमात्मा का विस्मरण होने पर उसकी सारी दृष्टि भोगों पर लगी रहती है। प्रारम्भ में उसकी दृष्टि थोड़े से अर्थ पर रहती है, किन्तु धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते वह इस सम्पूर्ण धरा के एकाछत्र साम्राज्य तक पहुंच जाती है। हम जानते हैं कि भोग-प्राप्ति की इच्छाओं की कोई सीमा नहीं होती है। एक के बाद एक इच्छा का जन्म होता रहता है और मानव उसकी पूर्ति में अपनी शक्ति, अपना जीवन और यहाँ तक कि अपनी सारी सुख-सुविधाओं का होम करता रहता है। विधि की कैसी विडम्बना है कि जिस सुख को प्राप्त करने के लिए वह जीवन में इतने आयोजन करता है, उसी सुख को वह इन आयोजनों में लगा देता है और उस सुख से वंचित रह जाता है। इस सुख की प्राप्ति में यदि कोई बाधा उत्पन्न करता है तो संघर्ष स्थिति के अनुसार छोटा-बड़ा सभी प्रकार का होता है। इसी का एक प्रकार से विश्व-युद्ध बनता है, जिससे सारा विश्व आज भय-भीत है। इस भय को समाप्त करने के लिए कभी तो राष्ट्र-मण्डल की बैठकें होती हैं, कभी निःशस्त्रीकरण की मांग उठती है, किन्तु अनुभव में ऐसा आता है कि "ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता ही गया।" आज घातक शस्त्र बनाने की एक होड़-सी लगी है। ज्यों-ज्यों निःशस्त्रीकरण की आवाज उठती है त्यों-त्यों संहारक हथियारों का निर्माण भी बढ़ता जाता है। बमों से अणु-बम एवं अणु-बमों से परमाणु बम निर्माण होते जा रहे हैं। आज स्थिति ऐसी हो गई है कि समूचा विश्व युद्ध के ज्वालामुखी के मुख पर बैठा है। न जाने कब यह ज्वालामुखी फूट पड़े! आज हमारे देश में अथवा विश्व में जो अनेक समस्याएँ दिखाई दे रही हैं, वे सब उपर्युक्त विश्वयुद्ध के ही विविध प्रकार हैं। इन समस्याओं से यदि हम छूट न पाये तो परिणाम होगा कि सृष्टि के समस्त धर्मों और संस्कृतियों का विनाश हो जायगा।

प्रश्न यह है कि इन समस्याओं से छूटने का उपाय क्या है? कैसे हम इस विश्व को विनाश से बचा सकते हैं? इसका केवल एक ही उत्तर है और वह है योग अर्थात् योग का

आश्रय लेने पर हम न केवल इसकी विनाश स्थिति को समाप्त कर सकते हैं अपितु सम्पूर्ण विश्व को उस चिरंतन सुख की प्राप्ति करा सकते हैं जो प्राणीमात्र का मूल उद्देश्य है। आइए इसी विषय पर हम विचार करें।

हमारी हिन्दू संस्कृति की सर्वोपरि विशेषता है 'त्याग'। अपने स्वयं के सुख का ध्यान न रख दूसरों का हित करना, दूसरों के सुख के लिए अपने सुख का होम करना और आवश्यकता पड़ने पर दूसरों के कल्याणार्थ अपना सर्वस्व न्योछावर करना हमारी परम्परा रही है। दधीचि, हरिश्चन्द्र आदि इसके उदाहरण हैं। 'दूसरों' शब्द के अन्तर्गत केवल मानव ही नहीं है अपितु पशु, पक्षी, कीट,पतंग आदि भी हैं जिनकी रक्षा के लिए हमने अपने जीवन तक की बाजी लगायी थी। राजा दिलीप, राजा शिवि आदि उदाहरणार्थ हैं। कौनसी भावना है इसके पीछे? इसके पीछे "आत्मवत् सर्व भूतेषु" की भावना है। हम मनुष्य ही नहीं पशु, पक्षी आदि को भी अपना समझते हैं। किसी के प्रति द्वेष-भाव, ईर्ष्या आदि हमारे मन में नहीं। इसीलिए हमने सबके कल्याणार्थ कहा—

सर्वे भवन्तु सुखिनः,
सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे पश्यन्तु भद्राणि,
मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्॥

अब हम विचार करें कि जैसी भावना हमारी है वैसी ही भावना सभी लोगों की, सारे देश के लोगों की और समस्त विश्व के लोगों की हो जावे तो क्या आज विश्व में जो अनाचार, अत्याचार, संघर्ष आदि विद्यमान हैं, वे रह सकेंगे? नहीं, वे सब समाप्त हो जायेंगे। केवल विश्व में एक ही भाव चाहिए और वह है उपर्युक्त भाव अर्थात् अहिंसा का भाव। 'विश्व के सभी राष्ट्र मेरे हैं, सभी लोग मेरे हैं, मेरा जीवन सभी की सेवा के लिए है" यह भाव संसार के प्रत्येक व्यक्ति के मन में रहा तो कोई किसी से न द्वेष करेगा, छल, कपट, प्रपंच आदि दोष नष्ट हो जायेंगे इसी को कहते हैं अहिंसा। यह भाव योग-साधन से ही सम्भव है। क्योंकि योग का सर्वप्रथम चरण है अहिंसा। योग के आठ अंग हैं-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें सर्वप्रथम अंग है यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

इस प्रकार योग-साधना की प्रथम सीढ़ी से ही जब संसार में सुख-समृद्धि एवं प्रेम का भाव निर्माण होकर सारा संसार एक परिवार बन सकता है तो समूचे योग-मार्ग पर चलने से विश्व की कैसी अवस्था होगी, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। फिर हमारा "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का लक्ष्य स्वयमेव प्राप्त हो जायेगा और वर्तमान सारी समस्याएँ एकदम हल हो जायेंगी। अतः आज की समस्याओं से छूटने का केवल एक ही उपाय है, वह है योग। यही कारण है कि विश्व के समस्त राष्ट्रों की अपेक्षा भारत में अधिक शान्ति है, सुख है, क्योंकि योग भारत

प्रभुकृपा का—

एक अलौकिक प्रसंग

श्री केशव उपाध्याय

देवाधिदेव महादेव जगतपति जनार्दन श्री सद्गुरुदेवजी महाराज तथा परम योग-योगेश्वर अपने महाप्रभु महाराज के युगल चरणों में प्रणाम के बाद, उन्हीं दयामय की चरण-शरण में घटित, एक योग परक घटना-क्रम का वर्णन करने का प्रयास किया जा रहा है। इस घटना द्वारा यह समझने तथा समझाने का प्रयास किया जा रहा है कि संकट की घड़ी में, हमारे-आपके तथा प्राणी मात्र के भाग्य विधाता सिद्धेश्वर श्री राम-लाल जी महाराज किस प्रकार से अपने बच्चों के प्राण-मान की रक्षा किया करते हैं।

घटना से सम्बन्धित बालक श्री कान्ति प्रकाश राय, जिसे उसके परिवार वाले प्यार से बब्बू कहा करते हैं, हमारे आदरणीय गुरु-भाई श्री निर्मलकुमार राय, जो कि हमारे आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव जी महाराज के अत्यन्त ही लाडले शिष्य हैं, के अनुज हैं।

घटना आज से करीब सात-आठ वर्ष पूर्व की है। श्री निर्मल जी के परिवार में गोरखपुर की एक एजेन्सी से एक ट्रैक्टर खरीदा गया। अभी ट्रैक्टर लिये माह दो माह ही हुए होंगे कि निर्मल जी के पट्टिदार के लड़के की शादी आजमगढ़ जिले के दोहरीघाट कस्बे में तय हो गयी। इनके पट्टिदार ने कहा कि हमारे लड़के की शादी में आप का ट्रैक्टर चलना नितान्त आवश्यक है। चूंकि पट्टिदार की बात थी अतः उनकी बात को टालना या उनसे बहाना बनाना उचित नहीं था। अतः यह तय हुआ कि बारात का समान ले जाने एवं ले आने के लिये यही ट्रैक्टर जायेगा। दोहरीघाट, आजमगढ़ जिले का वह कस्बा है जो सरयू नदी के किनारे पर बसा हुआ है। सरयू नदी के एक किनारे आजमगढ़ जिले का दोहरीघाट कस्बा है तथा दूसरे किनारे पर गोरखपुर जिले का बड़हलगंज कस्बा बसा हुआ है। ट्रैक्टर को श्री निर्मल जी का वही अनुज जिसे परिवार के लोग प्यार से बब्बू नाम से पुकारते हैं, स्वयं चलाया करता

का सनातन अंग है और फलस्वरूप विश्व के अनेक लोग तो भारत के योगाश्रमों में शरण लिये हुए ही हैं, साथ ही योग-साधना को महत्व दे रहे हैं। अमरीका जो विश्व का माना जाना धनी देश है, वहाँ के लोग सुख-शान्ति हेतु यहाँ कहीं तो योग सीखते हैं और कहीं वे "हरे राम हरे कृष्ण" जैसी संस्था चलाते हैं। इस प्रकार इस समूचे संसार को समस्याओं से मुक्त करने एवं सुख व शान्ति प्रदान करने का एकमात्र साधन है योग। संसार इस योग को ग्रहण करे, इसे अपनाये, इसका उत्तरदायित्व हम हिन्दुओं पर है, क्योंकि योग हमारी मूल एवं पैतृक सम्पत्ति है और पैतृक सम्पत्ति की अभिवृद्धि करना वर्तमान पीढ़ी का नैतिक दायित्व है। अतः पूज्य गुरुदेव के श्रीचरणों में विश्वास रख उनका आशीर्वाद प्राप्त कर स्वयं योग का अभ्यास करें और इसका प्रचार एवं प्रसार करें, यही युग की परम आवश्यकता है।

था। पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार श्री कान्तीप्रकाश राय उर्फ बब्बू, बारात का सामान लेकर दोहरी पहुंच गया। दोहरीघाट पहुंचकर बब्बू ने बारात का सामान निर्धारित स्थान पर उतरवा दिया।

बारात का सामान नियत स्थान पर उतर जाने के बाद बब्बू ने सोचा कि कल जनवासे के दिन तो हम खाली ही रहेंगे। अतः क्यों न गोरखपुर चलकर ट्रैक्टर लेने वाली एजेन्सी से ट्रैक्टर मुफ्त वाली सर्विसिंग करा ली जाय। ऐसा नियम है कि वाहन जिस कंपनी से खरीदा जाता है, वह कम्पनी दो या तीन सर्विसिंग मुफ्त किया करती है। चूंकि बारा-णसी से गोरखपुर की बीच की दूरी का दो तिहाई हिस्सा वह तय कर चुका था, अतः किसी भी बुद्धिमान मनुष्य के मन में इस प्रकार का विचार आना स्वाभाविक सा ही है। अतः जनवासे के दिन ट्रैक्टर पर काम करने वाले अपने एक खलासी को साथ लेकर बब्बू ने बहुत सबेरे ही ट्रैक्टर की मुफ्त वाली सर्विसिंग कराने के उद्देश्यसे गोरखपुर ट्रैक्टर एजेन्सी के लिये प्रस्थान कर दिया। दोहरी घाट से गोरखपुर के बीच की दूरी करीब सत्तर किलोमीटर है। गोरखपुर में ट्रैक्टर की एजेन्सी पर पहुंच कर बब्बू ने ट्रैक्टर की सर्विसिंग का नम्बर लगाकर एजेन्सी पर ट्रैक्टर खड़ा कर दिया। नियत समय पर ट्रैक्टर की सर्विसिंग भी हो गई। जब सर्वि-सिंग के बाद ट्रैक्टर एजेन्सी से बाहर निकला तो सायंकाल का समय बीत रहा था और रात होने वाली थी। चूंकि ट्रैक्टर बेचने वाली एजेन्सी इनकी कुछ रिश्तेदारी में ही पड़ती है। इसलिए एजेन्सी के मालिक ने कहा कि बेटा! आज रुक जाओ, कल प्रातःकाल ही उठकर चले जाना, परन्तु पट्टिदारी की बारात वाली बातको सोचकर बब्बूने विचार किया कि यदि आज मैं ट्रैक्टर लेकर दोहरी-घाट नहीं पहुंच जाता हूं तो बारात वाले परेशान होंगे। उसने सोचा कि बारात वाले अनेक प्रकार की शंका करेंगे। अतः यह जानते हुए कि गोरखपुर से दोहरीघाट के बीचका रास्ता अवाञ्छनीय तत्वोंकी सक्रियता के कारण रात में चलने लायक नहीं है तथा ट्रैक्टर की धीमी गति की बातको खूब अच्छी प्रकार से जानते हुए भी बारात की प्रतिष्ठा के लिये उसने अपने आराध्यदेव तथा अकारण दयालु श्री महाप्रभु जी के अभय चरणों को मन ही मन खूब याद किया एवं गोरखपुर से दोहरीघाट के लिये चल दिया। चलते समय जब उसने ट्रैक्टर का डीजल टैंक खोलकर देखा तो उसमें मात्र डेढ़ इंच डीजल था। साधारणतया डेढ़ इंच डीजल से इस ट्रैक्टर को मात्र १०-१२ किमी० ही चलना चाहिये। उसने सोचा कि अगले पेट्रोल-पम्प पर चल कर डीजल ले लिया जायेगा। अगला पेट्रोल-पम्प जहाँ डीजल मिलने की सम्भावना थी, सर्विस स्टेशन से आठ कि०मी० था। वह उस पेट्रोल-पम्प पर पहुंच गया और उस पेट्रोल-पम्प पर जब उसने पता लगाया तो पता चला कि डीजल बिल्कुल नहीं है। उसने फिर

ट्रैक्टर का डीजल टैंक खोलकर उसका माप लिया तो डेढ़ हाफ इंच डीजल का लेबुल बरकरार था। इस पैट्रोलपम्प के बाद गोरखपुर का शहरी क्षेत्र समाप्त हो जाता है। अतः उस पैट्रोलपम्प पर कार्यरत कर्मचारियों ने बब्बू से कहा कि बाबूजी ! इस समय आप यहीं रात्रि-निवास कर लीजिये, समय बड़ा ही खराब चल रहा है। पता नहीं, आगे किसी पैट्रोल-पम्प पर डीजल मिले कि न मिले। वैसे दोहरीघाट तक करीब सात पैट्रोल-पम्प पड़ेंगे। बारात की प्रतिष्ठा वाली बात की वजह से बब्बू ने दोहरीघाट पहुचने का अपना पक्का विचार बना लिया था। अतः बहुत ही आतुरता एवं कारुणिक भावना से श्री प्रभुजी के चरण-कमलों का चिन्तन किया एवं उन्हीं दयामय का स्मरण करता हुआ अपनी अगली यात्रा के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में पड़ने वाले प्रत्येक पैट्रोल-पंप पर वह पहुंचता वहां डीजल का पता लगाता, यह पता लगने पर कि डीजल नहीं है, वह अपने ट्रैक्टर की डीजल टंकी में डीजल का लेबुल नापता तो प्रत्येक स्थान पर उसका डेढ़ इंच का माप बराबर मिलता ही गया। आप को यह जानकर आश्चर्य होगा कि पहले पैट्रोल पम्प के बाद उसने शहर के बाहर जब सुनसान सड़कों पर ट्रैक्टर चलाना आरम्भ किया तो उसे स्पष्ट अनुभव हो रहा था कि परमयोग योगेश्वर सिद्धेश्वर श्री रामलालजी महाराज ट्रैक्टर के अगले हिस्से बोनट पर विराजमान हैं तथा अपने इस अबोध बालक को अभय होने का इशारा कर रहे हैं। वह श्री प्रभुजी की इसी मनोहर छवि का आनन्द लेता हुआ अपने गन्तव्य स्थान दोहरीघाट की तरफ बढ़ता जा रहा था।

आपको सुनकर आश्चर्य होगा एवं महान् आश्चर्य की बात यह कि डीजलटैंक में विद्यमान डेढ़ इंच डीजल पर जो ट्रैक्टर मात्र १०-१२ कि०मी० ही चलता था, वह गोरखपुर से दोहरीघाट की करीब सत्तर कि० मी० की दूरी तय करके अपने गन्तव्य स्थान बारात तक पहुंच गया। ट्रैक्टर अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचते ही बब्बू को श्री महाप्रभुजी का दर्शन होना बन्द हो गया। जब श्री महाप्रभु जी का दर्शन बन्द हो गया तो वह भाव-विभोर हो गया। इसके बाद उसने ट्रैक्टर रोक कर, जब अपने ट्रैक्टर का डीजल-टैंक खोला तो ट्रैक्टर की डीजल टन्की ऐसी सूख गई थी कि जिसे देखकर आश्चर्य में पड़ गया। उसे ऐसा भाव हो रहा था जैसे किसी ने उसे सूखे कपड़े से अच्छी प्रकार से साफ कर दिया हो। यह थी उस दयानिधान की करुणकृपा, जिसने अपने बच्चे को इस असुरक्षित वातावरण से बिना डीजल के करीब सत्तर कि० मी० की दूरी तय करके गन्तव्य स्थान पर पहुंचा दिया।

इस प्रकार के एक नहीं, अनेक उदाहरण आपको अपने 'सिद्धयोग दरबार' में कहीं न कहीं अवश्य ही देखनेको मिल जावेंगे, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि—

दयालु दीनबन्धु के, बड़े विशाल हाथ हैं।
अनाथ कौन है यहां, अनाथनाथ साथ है॥

—❁❁—

卐 प्राणायाम और ध्यान-समाधि 卐

卐 ऋषिवर उपमन्यु

प्राणायाम के दो भेद बताये गये हैं—अगर्भ और सगर्भ। जप और ध्यान के बिना किया गया प्राणायाम 'अगर्भ' कहलाता है और जप तथा ध्यान के सहयोगपूर्वक किये जाने वाले प्राणायाम को 'सगर्भ' कहते हैं। अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम सौ गुना अधिक उत्तम है। इसलिये योगीजन प्रायः सगर्भ प्राणायाम किया करते हैं। प्राण-विजय से ही शरीर की वायुओं पर विजय पाई जाती है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय—ये दस प्राणवायु हैं। प्राण प्रयाण करता है, इसीलिए इसे 'प्राण' कहते हैं। जो कुछ भोजन किया जाता है, उसे जो वायु नीचे ले जाती है, उसको 'अपान' कहते हैं। जो वायु सम्पूर्ण अङ्गों को बढ़ाती हुई उनमें व्याप्त रहती है उसका नाम 'व्यान' है। जो वायु मर्मस्थानों को उद्वेलित करती है, उसकी 'उदान' संज्ञा है। जो वायु अङ्गों को समभाव से ले चलती है, वह अपने उस समनयन रूप कर्मसे 'समान' कहलाती है। मुख से कुछ उगलने में कारणभूत वायु को 'नाग' कहा गया है। आँख खोलने के व्यापार में 'कूर्म' नामक वायु की स्थिति है। छींक में कृकल और जँभाई में 'देवदत्त' नामक वायुकी स्थिति है। 'धनंजय' नामक वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। वह मृतक शरीर को भी नहीं छोड़ती। क्रम से अभ्यास में लाया हुआ यह प्राणायाम जब उचित प्रमाण या मात्रा से युक्त हो जाता है, तब वह कर्ता के सारे दोषों को दग्ध कर देता है और उसके शरीर की रक्षा करता है।

प्राण पर विजय प्राप्त हो जाय तो उससे प्रकट होने वाले चिह्नों को अच्छी तरह देखें। पहली बात यह होती है कि विष्ठा, मूत्र और कफ की मात्रा घटने लगती है, अधिक भोजन करने की शक्ति हो जाती है और विलम्ब से सांस चलती है। शरीर में हल्कापन आता है, शीघ्र चलने की शक्ति प्रकट होती है, हृदय में उत्साह बढ़ता है, स्वर में मिठास आती है, समस्त रोगों का नाश हो जाता है। बल, तेज और सौन्दर्य की वृद्धि होती है। धृति, मेधा, युवापन, स्थिरता और प्रसन्नता आती है। तप, प्रायश्चित्त, यज्ञ, दान और व्रत आदि जितने भी साधन हैं—वे प्राणायाम के सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं। अपने-अपने विषय में आसक्त हुई इन्द्रियों को वहाँ से हटाकर जो अपने भीतर निगृहीत करता है, उस साधन को 'प्रत्याहार' कहते हैं। मन और इन्द्रियाँ ही मनुष्य को स्वर्ग तथा नरक में ले जाने वाली हैं। यदि उन्हें वश में रखा जाय तो वे स्वर्ग की प्राप्ति कराती हैं और विषयों की ओर खुली छोड़ दिया जाय तो वे नरक में डालने वाली होती हैं। इसलिए सुख की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह ज्ञान-वैराग्य का आश्रय ले इन्द्रियरूपी अश्वों को शीघ्र ही काबू में करके

स्वयं ही आत्मा का उद्धार करे।

चित्त को किसी स्थान-विशेष में बाँधना—किसी ध्येय विशेष में स्थिर करना—यही संक्षेप से 'धारणा' का स्वरूप है। एकमात्र शिव ही स्थान है दूसरा नहीं, क्योंकि दूसरे स्थानों में त्रिविध दोष विद्यमान है। किसी नियमित काल तक स्थान-स्वरूप शिव में स्थापित हुआ मन जब लक्ष्य से च्युत न हो तो धारणाकी सिद्धि समझना चाहिए अन्यथा नहीं। मन पहले धारणा से ही स्थिर होता है, इसलिये धारणा के अभ्यास से मन को धीर बनाये। अब ध्यानकी व्याख्या करते हैं-ध्यान में "ध्यै चिन्तायाम्" यह धातु माना गया है। इसी धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'ध्यान' की सिद्धि होती है। अतः विक्षेप-रहित चित्त से जो शिव का बारम्बार चिन्तन किया जाता है, उसी का नाम 'ध्यान' है। ध्येय में स्थित हुए चित्त की जो ध्येयाकार वृत्ति होती है और बीच में दूसरी वृत्ति अन्तर नहीं डालती, उस ध्येयाकार वृत्तिका प्रवाह रूप से बना रहना 'ध्यान' कहलाता है। दूसरी सब वस्तुओं को छोड़कर केवल कल्याणकारी परमदेव देवेश्वर शिव का ही ध्यान करना चाहिए। वे ही सबके परम ध्येय हैं। यह अथर्ववेद की श्रुतिका अन्तिम निर्णय है। इसी प्रकार शिवादेवी भी परम ध्येय हैं। ये दोनों शिवा और शिव सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त हैं। श्रुति, स्मृति एवं शास्त्रों से यह सुना गया है कि शिवा और शिव सर्वव्यापक सर्वदा उदित, सर्वज्ञ एवं नाना रूपों में निरन्तर ध्यान करने योग्य हैं। इस ध्यान के दो प्रयोजन जानने चाहिए। पहला है मोक्ष और दूसरा प्रयोजन है, अणिमा आदि सिद्धियों की उपलब्धि। ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान प्रयोजन—इन चारों को अच्छी तरह जानकर योगवेत्ता पुरुष योग का अभ्यास करे। जो ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न श्रद्धालु, क्षमाशील, ममतारहित तथा सदा उत्साह रखने वाला है, ऐसा ही पुरुष ध्याता कहा गया है अर्थात् वही ध्यान करने में सफल हो सकता है।

साधक को चाहिये कि वह जप से थकने पर फिर ध्यान करे और ध्यान से थक जाने पर पुनः जप करे। इस तरह जप और ध्यान में लगे हुए पुरुष का योग जल्दी सिद्ध होता है। बारह प्राणायामों की एक धारणा होती है, बारह धारणाओं का ध्यान होता है और बारह ध्यान की एक समाधि कही गयी है। समाधि को योग का अन्तिम अङ्ग कहा गया है। समाधि से सर्वत्र बुद्धि का प्रकाश फैलता है। जिस ध्यान में केवल ध्येय ही अर्थ रूप से भासता है, ध्याता निश्चल महासागर के समान स्थिर भाव से स्थित रहता है और ध्यान स्वरूप से शून्य-सा हो जाता है, उसे 'समाधि' कहते हैं। जो योगी ध्येय में चित्त को लगाकर सुस्थिर भाव से उसे देखता है और बुझी हुई आग के समान शान्त रहता है, वह 'समाधिस्थ' कहलाता है।

आत्म-शक्ति की उपासना

ॐ पं० श्री किशोरीदास वाजपेयी

संसार के सब पदार्थ दो श्रेणियों में विभक्त हैं—जड़ और चेतन। जड़ पदार्थों के अनन्त रूप हैं। चेतन-तत्व भी दो प्रकार का है—पहला जीव या प्रत्यक्-आत्मा, जो अल्प-शक्ति, अल्प, परिच्छिन्न और प्रतिशरीर भिन्न है। संख्या में यह अनन्त है। चेतन का दूसरा स्वरूप है—सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्, जो समस्त जड़ और चेतन-समुदाय में व्यापक है, सबका नियन्त्रण करता है और जिसे ब्रह्म परमात्मा आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है।

प्रत्येक पदार्थ में कुछ-न-कुछ शक्ति होती है। किसी भी शक्ति में भलाई या बुराई स्वभावतः नहीं होती। उसके सदुपयोग या दुरुपयोग से भलाई-बुराई का सम्बन्ध है। यदि किसी शक्तिका सदुपयोग किया गया तो परिणाम भला देखकर लोग उसे प्रशस्त ठहरा देते हैं और यदि अज्ञान या प्रमादवश उसका दुरुपयोग हुआ तो फिर भयंकर परिणाम देख कर उस शक्ति या तदाधार पदार्थ की ही लोग निन्दा करने लगते हैं।

संसार का प्रत्येक पदार्थ अपनी शक्ति रखता है। शक्ति के बिना कुछ है ही नहीं। यह और बात है कि हमें किसी शक्ति का ज्ञान न हो। जो लोग नहीं जानते कि जल तथा अग्नि आदि पदार्थों में क्या शक्ति है, वे उसका उपयोग भी क्या कर सकते हैं? जिनको जितना ज्ञान है वे उतनी शक्ति का सम्पादन करके यशस्वी और कृतकार्य होते हैं। साधारणजन अपने साधारण ज्ञानसे अग्नि द्वारा भोजन आदि पकानेका काम ले लेते है, किंतु जिनको सुदृढ़ अध्यवसाय से विशेष ज्ञान प्राप्त है, जो विज्ञानमें निष्णात हैं, उन्होंने अग्नि और जल आदि पदार्थों में अपरिमित शक्ति देख रेल-तार आदि का आविष्कार कर संसार को चकित कर दिया है।

आज पाश्चात्य देश प्राकृतिक शक्ति की उपासना में मग्न हैं। वे जल, अग्नि, वायु आदि पदार्थों का विश्लेषण करके दुनिया को दंग कर रहे हैं। जब प्रकृति में इतनी शक्ति है, तब आत्मा में कितनी होगी? प्रकृति-निरीक्षण भलीभाँति करने पर भी जिनकी जिज्ञासा शान्त नहीं होती तथा जिन्हें शान्ति नहीं मिलती, वे फिर चेतन की ओर मुड़ते हैं—चेतनाभिमुख होते हैं—'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।'' चेतन का अनुसंधान करते हुए उसे अपना तथा अपने नियामक का स्वरूप ज्ञात होता है और उपासना से शक्ति-संपादन होती है। प्राचीन भारत ने अबसे बहुत पहले प्रकृति के ये खेल देखकर आत्म-चिन्तन किया था और इस दिशा में भी इतनी इति कर दी थी कि आजकल के अनुभव-शून्यजन उस पर अविश्वास करके मजाक उड़ाते हैं।

भारतवर्ष ने प्राकृतिक शक्तिकी पूर्ण उपासना करके आध्यात्मिक शक्ति का जो चमत्कार दिखाया था, उसकी झलक हमारे प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। संसार में एक-मात्र भारत ने ही ऐसी आध्यात्मिक शक्तिका

सम्पादन किया था और अब वह भी उसे प्रायः बिल्कुल खोता जा रहा है। हजारों वर्षों से प्रकृतिवादी देशों के संसर्ग से इसकी आध्यात्मिक शक्ति जाती रही है। बाहर वालों को जो अभी तक वैसी आध्यात्मिकता कभी अनुभव हुआ ही नहीं है और न उन्होंने ऐसी बातें ही सुनी हैं, तब वे हमारे ग्रन्थों की आध्यात्मिक शक्ति की बातों पर कैसे विश्वास करें ?

सारांश यह कि आत्मा में जो शक्ति है, अन्तर्जगत् में जो विद्युत् है, उससे हम आज एकदम अपरिचित हैं। सामने उदाहरण भी प्रायः नजर नहीं आते। इसीलिए साधारण लोगों की बुद्धि में वैसी बातें नहीं आतीं और फलतः देश आध्यात्मिकता से दूर हटाता जा रहा है। जब विश्वास ही नहीं तो फिर उसके साधन में प्रवृत्ति कैसे हो ? यह हमारे दुर्भाग्य की बात है।

जल में विद्युत् है और सदा रहेगी, परन्तु जो उसे समझे और उसकी प्राप्ति के लिए साधना करे, उसे वह सुलभ हो जायगी। फिर तो यन्त्र द्वारा प्रकट करके उसके स्वरूप से वह संसार की आँखें खोल देगा और सब मान जायँगे। यदि साधना न की जाय, यन्त्रादि का निर्माण करके उसके द्वारा उसे प्रत्यक्ष सिद्ध न किया जाय तो फिर केवल ज्ञान कुछ काम न देगा। ज्ञान की सफलता कर्म और उपासना से है।

पहले तो आत्मा का विवेक हो, फिर उपासना और कर्म की साधना से उसकी शक्ति का विकास किया जाय। साधन हमारे ग्रन्थों में लिखे हैं, साधक चाहिए। विश्वास साधक को उत्पन्न करता है। यदि हमें अपने पूर्वजों की बातों में विश्वास और धर्म-ग्रन्थों में श्रद्धा हो तो अवश्य ही हम अपनी आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर लेंगे। फिर भी पाश्चात्य जड़वाद के संसर्ग से हममें जो दोष आ गये हैं, उनका दूर होना जरा कठिन है, फिर भी जो साधक विश्वासपूर्वक इधर झुकते हैं, वे स्पष्ट देखते हैं कि आध्यात्मिक शक्ति क्या वस्तु है और कैसी है ? वे फिर इस पर मुग्ध होकर समस्त संसार को तुच्छ समझ लेते हैं। आध्यात्मिक शक्ति क्या वस्तु है, यह अनुभव से जाना जा सकता है। हमें उसी की उपासना से कल्याण मिलेगा। ●●

● एक दिन मैंने देखा कि बापू कोई चीज बड़े जोर से ढूंढ़ रहे हैं। मैंने पूछा—"बापूजी ! आप क्या ढूंढ़ रहे हैं ?" बोले—"मेरी पेन्सिल छोटी सी है।" मैंने अपनी एक पेन्सिल उन्हें देने के लिए निकाली। बापू बोले—"नहीं, नहीं। मुझे वही पेन्सिल चाहिए जिसे मैं ढूंढ़ रहा हूं।" मैंने कहा—"बापूजी ! अभी तो इसे काम में ले लीजिए। आपकी पेन्सिल मैं बाद में ढूंढ़ दूंगा।" वे बोले—"काका आप नहीं समझते। मैं वह छोटी पेन्सिल खो नहीं सकता। वह मुझे मद्रास में जी० ए० नटेसन के छोटे लड़के ने दी थी। कितने स्नेह से दौड़ कर वह मुझे दे गया था। मैं उसे कैसे गँवा दूं ?"

फिर हम दोनों ने उस जरा सी पेन्सिल की तलाश की और बापू को तभी चैन पड़ा जब वह पेन्सिल मिल गयी।.........

—काका कालेलकर

निद्रा

श्री जे० कृष्णमूर्ति

यदि हमें निद्रा से सम्पूर्णतया वंचित कर दिया जाय तो क्या होगा ? आपस में लड़ने-झगड़ने, एक-दूसरे के विरुद्ध कारंवाइयाँ करने अथवा गलत-सलत काम करने के लिए ही हमें अधिक समय मिलेगा न ? निद्रा समाप्त होने से हममें अधिक निष्ठुरता और अधिक निर्दयता नहीं आयेगी ? अथवा विनम्रता, दयाशीलता और मितव्ययतापूर्वक जीने के लिए हमें अधिक समय मिलेगा और इसी तरह क्या नव-निर्माण का भी समय मिलेगा ? निद्रा एक अद्‌भुत वस्तु है, उसकी महत्ता भी विशेष प्रकार की है। अनेक लोगों का दिन का सारा मनोव्यापार नींद में भी सुप्त-गुप्त रूप से चलता है। निद्रावस्था का मतलब है—जागृत अवस्था के कष्टप्रद अथवा उत्तेजक ढंग से जीवन का सातत्य सुप्त-गुप्त रूप से जारी रहने वाली अवस्था। निद्रा का मतलब है दिन-भर के बेढंगे और निरर्थक जीवन-कलह का एक भिन्न-स्तरीय विस्तार।

वस्तुतः निद्रा से ही हमारा शरीर शक्ति से भरकर ताजा होता रहता है। हमारी जो देहान्तर्गत सेंद्रिय व्यवस्था है, उसका एक स्वतन्त्र अस्तित्व है। निद्रावस्था में जब देह का जागृत व्यापार बन्द रहता है, तब इस स्वतन्त्र सेंद्रिय व्यवस्था को नित्य-नवीनता प्राप्त होती रहती है। कारण, निद्रावस्था में मनुष्य की वासना निश्चल हो जाती है। अतः देह की इस सेंद्रिय व्यवस्था में वह कोई परिवर्तन नहीं होने देती। लेकिन निद्रा के कारण एक बार शरीर ताजगी से भर गया कि फिर वासना-व्यापारों को नये-नये आवेग स्थान ढूंढने और अपना विस्तार करने का अधिकाधिक अवसर मिलता है। यह स्पष्ट है कि देहान्तर्गत सेंद्रिय व्यवस्था में हम जितना कम परिवर्तन करेंगे, उतना ही हमारा हित है। इस स्वतन्त्र सेंद्रिय व्यवस्था पर मन की सत्ता जितनी कम चलेगी, उतने अंश में यह व्यवस्था अधिक नैसर्गिक और निरामय रहेगी। यों इस सेंद्रिय व्यवस्था में मन की विकृति के कारण या उसकी अन्तर्भूत दुर्बलता के कारण कुछ विकृति उत्पन्न हो जाना अलग बात है।

निद्रा में अतीव असंगता निहित रहती है। लेकिन वासनाएँ जितनी बलवती होंगी, निद्रा की असंगता उतनी ही कम हो जायगी। वासनायें प्रवृत्तिशील हों या निवृत्तिशील, वे मूलतः प्रवृत्तिशील ही होती है। निद्रा के कारण यह प्रवृत्तिशीलता उतने समय के लिए स्थगित हो जाती है। निद्रा वासना-विरोधी स्थिति नहीं है। वह निवृत्तिशीलता भी नहीं है। बल्कि वह तो ऐसी स्थिति है, जिसमें वासना बैठ ही नहीं सकती। निद्रावस्था में बोध के ऊपर-ऊपर के स्तर पर स्तब्धता निर्माण होती है और इस कारण बोध के गहरे स्तर के सन्देश को ग्रहण करने की सामर्थ्य उस ऊपरी स्तर में आती है। लेकिन बोध के सम्पूर्ण प्रश्न का इसके कारण केवल आंशिक आकलन ही होता है। वस्तुतः जागते और सोते बोध के सम्पूर्ण स्तरों में सहज रूप से परस्पर संवाद निर्माण हो सकता है। यह आवश्यक भी है, क्योंकि इस परस्पर संवाद के कारण मन को

अपना जो अवास्तविक महत्व प्रतीत होने लगता है, उसमें वह मुक्त होता जाता है और फिर बोध के व्यापार में मन के महत्व का कोई स्थान शेष नहीं रह जाता। अपने ही संकोच को मूर्त करने के अपने व्यापार से मन सहज स्वाभाविक ढंग से मुक्त हो जाता है। इस प्रक्रिया में कुछ विशिष्ट होने की मन की प्रवृत्ति पूरी तरह लुप्त हो जाती है और अनुभवों को सतत संचित करते रहने का आवेग भी कतई नहीं बचता।

लेकिन निद्रावस्था में तो और भी बहुत-कुछ मूर्त होता रहता है। इस अवस्था में हमें अपनी समस्याओं का उत्तर मिलता है। ऊपरी स्तर की मन की बोधावस्था अथवा जानकारी उस समय शान्त हो जाती है। इस स्थिति में हमें अपनी समस्याओं का उत्तर मिलता है, यह आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन इससे अधिक महत्वपूर्ण तथा अर्थगर्भ कुछ बात निद्रावस्था में मूर्त होती है। वह है मन को प्राप्त होने वाली नूतनता। यह नूतनता बुद्धि-पुरस्सर किये गये प्रयत्नों का फलित नहीं होता। हम एकाध नैसर्गिक देन अथवा क्षमता का बुद्धि-पुरस्सर संवर्धन कर सकते हैं, एकाध तन्त्र का विकास कर सकते हैं अथवा अपने बर्ताव के एकाध विशिष्ट नमूने का भी विकास कर सकते हैं। लेकिन ऐसा संवर्धन या ऐसा विकास करना नूतनता प्राप्त करना नहीं है। बुद्धि-पुरस्सर संवर्धन नवसर्जन नहीं है। कुछ विशिष्ट होने की तरंग और उसके लिए बुद्धि-पुरस्सर प्रयत्न जब तक चलते रहते हैं, तब तक इस सर्जनशील नूतनता का उदय ही नहीं होता। उसके लिए समस्त संचयात्मक आवेगों और उद्रेकों का मनःपूर्वक सहज रूप से त्याग जरूरी है और आगे के अनुभवों के लिए और साध्य-उपलब्धि के लिए गतानुभवों का संचय भी सहज रूप से छूट जाना चाहिए, क्योंकि मन के इस संचयात्मक, स्व-संरक्षणात्मक उद्रेक में काल-श्रेणी उत्पन्न होती है और यह उद्रेक सर्जनशील नूतनता में सदैव बाधक साबित होता है।

हम जिसे मन की बोधावस्था या जानकारी समझते हैं, वह कालक्रम की कोटि में ही विचरने वाली चीज है। इस जानकारी का काम यही है कि नित्य होने वाले अनुभवों को मन के विभिन्न स्तरों पर दर्ज करके रखे और उनका संचय करती रहे। इस जानकारी की कक्षा में जो-जो घटित होता है, वह केवल उसी का विक्षेप होता है। इस विक्षेप की एक विशिष्ट प्रकृति होती है और सहज ही उसकी नाप-तौल की जा सकती है। निद्रावस्था में या तो यह जानकारी बलवती होती है अथवा उसके क्षेत्र में कुछ न कुछ भिन्न ही घटित होता है। हममें से बहुतों की निद्रावस्था में यह संचयशील जानकारी अधिक दृढ़तर ही बनती है। अनुभवों का लेखन और संनयन करते रहने की इस जानकारी की प्रक्रिया में केवल आइ-विस्तार ही मूर्त होता है उसमें नूतनता कतई नहीं होती। अनुभव के इस विस्तार के कारण सर्व समा-

स्वास्थ्य प्राप्ति के सात्विक उपाय

❀ श्री शिवानन्द

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए कुछ बातें विशेष आवश्यक है-चित्तशुद्धि (चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि विकारोंसे मुक्ति), नियमित एवं संयमित जीवन, उचित भोजन, परिश्रम, व्यायाम तथा विश्राम।

चित्तशुद्धि का अर्थ है-चित्त को निर्विकार बना लेना। चित्त के समस्त विकारों का मूल कारण मोह है। सच तो यह है कि केवल सभी मनोविकार ही नहीं, अपितु अधिकांश शारीरिक विकार भी मोह के कारण ही उत्पन्न होते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान एवं औषधि-विज्ञान स्पष्ट रूप से इस तथ्य का साक्ष्य कर रहे हैं। पहले मानसिक विकार मन में उत्पन्न होते हैं, तत्पश्चात् शरीर में दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

मनसा: विकारा: पूर्वं मनसि भवन्ति,
पश्चाद्दोषैरनुबध्यन्ते।

मन को पवित्र एवं बलवान् रखने के लिए भोजन की पवित्रता का विशेष महत्त्व है। 'मनसो भुक्तसम्भूतिः' अर्थात् मन का जन्म किये हुए भोजनसे होता है। प्रसिद्ध लोकोक्ति है—'जैसा खायें अन्न, वैसा हो जाये मन।' ईमानदारी और मेहनत से कमाये हुए धन द्वारा खरीदे हुए अन्न से बनाया हुआ स्वच्छ भोजन मन को बल प्रदान करता है।

महान् द्रष्टा गोस्वामी तुलसीदास जी ने सूत्र रूप से यही निश्चय किया था कि, 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।' शारीरिक तथा मानसिक कष्ट का प्रधान कारण मोह ही है। प्राय: हम कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित न होकर मोहके कारण ही अपना समस्त क्रिया-कलाप करते हैं। प्राणियों तथा वस्तुओं के प्रति हमें मोह होता है। राग-द्वेष इसके दो पहलू हैं। वस्तुओं के परिग्रह की धुन भी मोह के कारण ही होती है और परिग्रह ही छोटे झगड़ों और महान् युद्धों का कारण, अप्रच्छन्न अथवा प्रच्छन्न रूप से होता है।

अन्य व्यक्ति की किसी वस्तु के नष्ट होने पर हमें दुःख नहीं होता है। जिस व्यक्ति से

बेशक जैसा कुछ-न-कुछ साध्य करने की ओर नया ज्ञान हाथ लगने की विशेष उल्लास-भावना मनमें निर्माण होती है लेकिन उल्लास की यह भावना सर्जनशील नूतनता नहीं है। नूतनता के निर्माण के लिए कुछ विशिष्ट बनने के लिए दौड़-धूप वाली यह प्रक्रिया पूर्णत: विलुप्त हो जानी चाहिए। इस विलुप्तता का स्वरूप ऐसा न होना चाहिए कि वह अधिक अनुभव प्राप्त करनेका एक साधन बने। बल्कि यह विलुप्तता केवल विलुप्ता के लिए निःहेतुक होनी चाहिए।

कुछ विशिष्ट होने की प्रवृत्ति जब पूरी तरह मिट जाती है, कार्य-कारण-भाव का अन्त हो जाता है, तभी निद्रावस्था में और अनेक बार जागृत अवस्था में भी उस कालातीत का उस कार्य-कारण-भावातीत का उदय होता है।

हमारा जितना मोह है, उसी के अनुपात में हमें उसके दुःखमें दुःख होता है। जब हमारी किसी वस्तु का नाश होता है, तब हमें बड़ा दुःख होता है। सैकड़ों कीमती घड़ियाँ प्रतिदिन टूटती हैं, परन्तु हमें उनका ख्याल भी नहीं होता। किन्तु यदि मेरी घड़ी टूट जाती है तो घोर क्लेश होता है, इसका कारण मोह ही तो है। मुझे अपनी घड़ी के प्रति मोह है, अन्य व्यक्तियों की घड़ियों के प्रति नहीं है। सैकड़ों व्यक्ति नित्य-प्रति मृत्यु को प्राप्त होते हैं, किन्तु मेरे किसी सम्बन्धी की मृत्यु हो तो मुझे दुःख होता है। इसका कारण मोह है। जितनी मोह की मात्रा हमारे मन में किसी व्यक्ति या वस्तुके प्रति होती है उसके सम्बन्ध में हमें उतना ही दुःख होता है। हमारी इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि हमें मोह के कारण ही विविध वस्तुओं के प्रति आकृष्ट कर देती है तथा उन वस्तुओं की संप्राप्ति एवं संग्रह के द्वारा हम मिथ्या-तुष्टि का अनुभव करते हैं। कहीं चटपटे, गरिष्ठ भोजन से हम शरीर को कष्ट में डाल देते हैं, कहीं वस्तुओं के विषय में मेरा-तेरा के झगड़े से मनको शोक में डाल देते हैं तथा बुद्धि को अहंकार में डाल देते हैं। प्रेम सुखद होता है, मोह दुःखद। यदि पुत्र कुछ दिनोंके लिए दूर चला जाय तो एक ओर माता-पिता क्लेश-निमग्न हो जाते हैं तथा दूसरी ओर पुत्र भी दुःखी रहता है, यह मोह का ही फल है। बच्चे के रोगी होने पर शीघ्र चिकित्सा करने के बजाय मोह से रोने बैठ जाती है।

निश्चय ही हमें मोह से त्याग करना चाहिए। मोह त्याग का अर्थ यह नहीं है कि हम वस्तुओं एवं व्यक्तियों को छोड़ दें अथवा उनसे घृणा करें। वस्तुओं एवं व्यक्तियों में तो कोई दोष नहीं है। मोहरूपी दोष तो हमारे मन में है। मोह त्याग का अर्थ यह है कि हम उन वस्तुओं का त्याग नहीं, बल्कि उनकी वासना, उनके प्रति मिथ्या आकर्षण का त्याग करें, संसार का त्याग नहीं, बल्कि सांसारिकता का त्याग करें। संसार को तो छोड़ दिया, वस्तुओं का बाह्य परित्याग भी कर दिया, किन्तु मोह अब भी सताता है तो क्या लाभ हुआ? वस्तुओं का उपभोग भी करें, प्रयोग करें, किन्तु केवल आवश्यकतानुसार करें,त्यागभावसे करें तथा निर्लेप रहें।

ईशावास्यमिदं सर्वं,
यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः,
मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

—ईशोपनिषद्

इस गतिशील जगत् में जो कुछ भी है, वह सब परमात्मा से आपूरित है, सृष्टि के कण-कण में ईश्वर व्याप्त है, सब ईश्वरमय सब ईश्वर का है। अतएव हमें त्यागपूर्वक भोग करना चाहिए। किसी के धन की ओर गृद्ध की लोभी दृष्टि से मत देखो।

त्यागपूर्वक, मोहरहित होकर वस्तुओं का उपभोग करना सीखें तथा व्यक्तियों से मोहरहित प्रेम करना सीखें।

मोह सभी मनोविकारों का सेनापति है।

यदि मोह को भगा दिया तो उसकी सेना भी भाग उठेगी। कटक में भगदड़ मच जायगी। मोह मूल है।

“छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्।” (मूल के छिन्न होने पर न शाखा रहती है, न पत्र ही)।

यदि हम कठोर दण्ड भी दे रहे हों तो भी ईर्ष्या, द्वेष, घृणासे प्रेरित होकर नहीं, बल्कि कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर दें। यह आदर्श स्थिति है। हम मोह त्यागकर, मनोविकारों को छोड़कर, जितना भी मन पवित्र कर लेंगे उतना ही सुन्दर स्वास्थ्य एवं सुख प्राप्त कर सकेंगे। मोह त्याग से संतोषवृत्ति भी स्वयं आ जाती है। 'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।' सन्तोष से बढ़कर कोई सुख-लाभ नहीं है। सन्तोष के बिना चित्तवृत्ति शान्त एवं स्थिर नहीं होती। सन्तोषके बिना मनुष्य को न केवल अपना कर्त्तव्य नीरस प्रतीत होता है, बल्कि अपने अधिकार भी कष्टप्रद हो जाते हैं; अपना धन-वैभव भी कचोटने लगता है। तृष्णा नरक है, सन्तोष स्वर्ग है। हम ईर्ष्या के कारण भी सन्तोष नहीं करते हैं। “आप पाप की नगर बसावत सहि न सकत परखेरो।” जीवन में सादगी अपनाने पर ही हम सन्तोष धारण कर सकते हैं।

मन को शुद्ध करने के लिए अनेक उपाय हैं, हमें अपने मन का निरीक्षण करना चाहिए। जिस प्रकार हम दर्पण में मुख देखकर उसके दाग-धब्बे मिटाते हैं उसी प्रकार अन्तर्मुखी होकर अन्तर्वृत्ति-निरीक्षण (Introspection) करें। अपने दोषों, विकारोंको पहचान कर, एक-एक करके, चुन-चुनकर धैर्यपूर्वक उनका निराकरण करें। स्नान के द्वारा जैसे शरीर को शुद्ध करते हैं, मन को भी वैसे ही सत्य के अभ्यास से शुद्ध करें। सत्य सोचने, कहने एवं करने का अभ्यास मन की शुद्धि के लिये सहायक है। 'अद्भिः गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।' जल से शरीर के गात्र शुद्ध होते हैं। सत्य से मन शुद्ध होता है, मोह के कारण बाहर की दुनिया हमारे मनमें बसी पड़ी है और हमें चैन से नहीं बैठने देती। ईर्ष्या-द्वेष, घृणा-क्रोध, भय-चिन्ता हमें सताते ही रहते हैं। मोह निराकरण के द्वारा हम मन में से जितना-जितना इस बाहरी दुनिया को निकाल देंगे और उसे सद्विचार, हरि-स्मरण से भर लेंगे, उतना-उतना ही सुख होता चला जायगा।

शरीर-शुद्धि होने पर तथा स्वच्छ वस्त्र पहनकर कैसा हर्ष होता है? मन को स्वच्छ, शुद्ध, निर्मल करने पर तो अनुपम उल्लास की प्राप्ति होती है। मानसिक स्वच्छता होने पर अनिर्वचनीय सुख का अनुभव होता है जो कि शरीर को भी पुष्ट करता है। दिन में एक ऐसा समय निश्चित कर लें जब हम अपने-आपको कार्य-व्यस्तता से मुक्त करलें। नित्य-प्रति प्रातः-सायं अथवा सोने से पूर्व जब भी सुविधा हो, अकेले बैठकर अपने विचारों को देखें। हम थोड़ी देर तक अपने साथ भी बैठना सीखें तथा शान्त भावसे अपने ही विचारों का जुलूस देखें। मन के साथ

मैत्री जोड़कर मन को धीरे-धीरे समझाकर, धनात्मक (Positive) विचारों की सहायता लेकर, एक-एक करके ईर्ष्या, द्वेष, भय, घृणा विषाद, यशलालसा, काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह आदि विकारों का शमन (न कि दमन) करें। कर्त्तव्य-निष्ठा से प्रेरित होकर उत्साह से परिपूर्ण होकर इन विकारों से ऊपर उठ कर कर्म करना सीखें। अपने एक-एक दोष के शमन का सरल उपाय करें, अपने मन को मित्र मानकर प्रयत्न करें तथा सदैव साहस और विश्वास रखें। नित्यप्रति तटस्थ आत्म-चिन्तन, विचार-विश्लेषण करते हुए अपने दोषों को धनात्मक मनन, चिंतन तथा प्रयत्न के द्वारा निर्बल कर दें, तभी मन को प्रभु में भी एकाग्र कर सकेंगे। विकार मन तथा शरीर को निर्बल बनाते हैं। इनसे मुक्त होने पर शक्ति अबाधित होकर प्रबल हो जाती है जैसे धुआँ हटने पर अग्नि धधक उठती है। बुरे विचार आने पर भी अपने को न कोसें, उन्हें आने दें तथा धनात्मक विचार जगाकर उनका शमन करें। दोषों पर ही ध्यान देने से वे बलवान् हो जाते हैं, अतएव मन को मित्र बनाकर धनात्मक विचारों को प्रबल करें। बुरे विचार स्वतः शान्त हो जायेंगे। जहाँ आत्म-सुधार का संकल्प है, वहाँ आत्म-सुधार अवश्य होगा।

हम अपनी तुलना दूसरे व्यक्ति से न करके अपने विगत और वर्तमान की ही तुलना करें और नित्यप्रति मन, वचन और कर्म में पहले की अपेक्षा अच्छा होने का प्रयत्न करें। एक रेखा को छोटा करने का तरीका उसे मिटा देना नहीं है, बल्कि उसके पास उससे बड़ी रेखा खींच देना है। दूसरे की प्रगति को देख कर ईर्ष्या-द्वेष वश उसे मिटा देने का प्रयत्न करना निषेधात्मक एवं आत्मध्वंसक क्रिया है तथा उससे प्रेरणा लेकर उसकी अपेक्षा अधिक उन्नति करना एक स्वस्थ होड़ है। विकारों के रहने पर तो विश्व की समस्त सम्पदा, अतुल बल, महान् पद, अपूर्व यश तथा असीम विद्या पाकर भी अथवा दिन-रात केवल बाह्य पूजा-पाठ, भजन, यज्ञ, तप करके भी कदापि सुख नहीं हो सकता है। अतः मन की पवित्रता मानव में सुख एवं स्वास्थ्य की प्रथम आवश्यकता है। मन के पवित्र होने पर ही पूजा-पाठ सार्थक होते हैं। 'तीर्थं परं किम् ? हि मनो विशुद्धम्।' अपना पवित्र मन ही परम शान्तिदायक श्रेष्ठ तीर्थ है।

क्षीणताप्रद मोहादि दोषों को सद्विचारों द्वारा निरस्त करके, रिक्त मन को पोषक भावों से परिपूरित कर देना चाहिए। प्रभु से तथा जनता-जनार्दन से शुद्ध प्रेम करना सीखें। इससे मन को स्थायी बल मिलेगा। स्वार्थ छोड़कर परमार्थ की ओर बढ़ें, सङ्कीर्णता छोड़कर व्यापकता, उदारता, क्षमा, सहनशीलता, त्याग और सेवाभाव अपना लें। निःस्वार्थ सेवाभाव से समाज के साथ जुड़ने पर आप में बल एवं शान्ति का उदय हो जायेगा।

मन के शुद्ध होने पर अन्तःकरण की ध्वनि जीवन-पथ में प्रकाश की भाँति सहायक

होती है। पवित्र अन्तःकरण की ध्वनि की उपेक्षा करके विपरीत आचरण करने से मन निर्बल एवं दुःखी होता है। शुद्ध अन्तःकरण की ध्वनि ईश्वर की ही वाणी होती है। यदि मन किसी कर्म को बुरा कहता है, उसके करने से मन में अशान्ति होगी यद्यपि उससे क्षणिक सुख प्राप्त हो रहा हो। मन की अशान्ति से शरीर में रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव मनको बुरे प्रतीत होने वाले शब्दों को नहीं कहना चाहिये तथा मन को कुत्सित प्रतीत होने वाले कर्म को नहीं करना चाहिए। अपने सद्विचार के अनुरूप आचरण करने से अन्तःकरण उज्ज्वल होता है, मनोबल बढ़ता है। अतः शुद्ध, स्वस्थ एवं सुखी मन सुन्दर स्वास्थ्य का प्रथम रहस्य है।

आर्थिक अभाव अथवा किसी (शारीरिक) विषमता इत्यादि के कारण मन में दीनता न आने दें। दैन्यभाव दुर्बलता उत्पन्न करता है। मन की प्रफुल्लता, फक्कड़ता सर्व-विजयी होती है और उसका सम्बन्ध किसी बाह्य परिस्थिति, विषमता अथवा विषमता से नहीं होता है। मन को सदैव मस्त रखें।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' मन ही मानव के बन्धन और मोक्ष, दुःख और सुख का कारण है। 'जितं जगत् केन? मनो हि येन।' जिसने मन पर विजय प्राप्त कर ली, उसने संसार को जीत लिया। मन को सुखी रखने के लिये पुराने विकारों का निराकरण, यम-नियम के द्वारा मनो दोषों का प्रवेश मन में न होने देने का प्रयत्न, उदारचेता होकर प्रभु-भक्ति एवं जन-सेवा के भाव का समावेश तथा प्रसन्न (मस्त) रहने का अभ्यास, शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए परम आवश्यक है।

प्रसन्न चित्त व्यक्ति के शरीर में शक्ति, स्फूर्ति, बल, ओज तथा स्वस्थता स्थायी रूप में रहते हैं। चिन्ता आदि क्षीणता-दायक विकारों को छोड़कर कर्म करना सीखें। चिन्ता में चिता से अधिक दाहकत्व होता है। वैज्ञानिकों का मत है कि हँसी-खुशी का जीवन शरीर को स्वस्थ रखता है। सोवियत वैज्ञानिक डा० पी० बी० सिमोनोफ का मत है कि भय, घृणा, क्रोध, चिन्ता आदि मनोवेग मनुष्य को सुस्त और निष्क्रिय बना देते हैं तथा उल्लास और मस्ती का भाव मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास में विशेष सहायक होता है। मनोवेग शरीर क्रिया पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालते हैं। प्रभु के भरोसे के सहारे चिन्ता छोड़ी जा सकती है तथा मस्ती अपनायी जा सकती है। चिन्ता छोड़कर कर्म करना अपने में एक निराला सुख होता है।

विचार, वचन, कर्म की एकता होनी चाहिए अन्यथा मन दुर्बल बन जाता है। हम भले ही किसी दूसरे को धोखा दे दें, परन्तु अपने आपको धोखा नहीं दे सकते। मन, वचन, कर्म की एकता होने पर मन में तनाव भी उत्पन्न नहीं होता है।

— ❁ —

छलकत गगरी

❁ सुश्री उषा

धरती की सुगंध,
पानी का जीवन,
वायु का स्पंदन
प्रकाश का तेजकिरण
सबने मुझे पाथेय दिया
और उन सबको
आकाश की अलिप्तता में पिरो कर
मैं चल पड़ी हूँ,
अनंत की यात्रा पर।

× × ×

चराचर के साथ मैंने प्रेम का नाता जोड़ा
और पूरी सृष्टि ने मुझ पर अनहद प्रेम
बरसाया
उस प्रेमवारि में मैं भिगती गयी
वैसे-वैसे मेरे अन्दर का मैल धुलता गया,
धुलता गया
अब,
मेरे भीतर ही
निर्मलता का झरना फूट निकला है।

× × ×

तुम मुझे भर-भर कर दे रहे हो
मेरी गगरी छलका रहे हो
मैं मेरे में ही मस्त हूँ
मेरे में ही व्यस्त हूँ
और तुम्हारे भरपूरे भण्डार से
जो कुछ पाती हूँ
उसको लुटाती रहती हूँ
तुम भरते रहो
मैं छलकती रहूँ।
तुम देते रहो
मैं बाँटती रहूँ।

× × ×

मेरे आँगन में शहद से भरे
घड़े के घड़े इकट्ठे हुए हैं
किन्तु मैं तो चाहती हूँ,
अमृत की एक बूंद
रोज-रोज नहाती हूँ
रगड़-रगड़ कर नहाती हूँ,
गङ्गा में नहाती हूँ
गङ्गासागर में नहाती हूँ,
फिर भी पवित्रता दूर की दूर ही रह
जाती है
कभी तुम आ कर
एकाध बूंद बरसा जाते हो
और मेरे तन-मन के कण-कण
पवित्रता प्रतिबिम्बित करने लगते हैं।

सादगी और संयम

❀ श्री आचार्य भद्रसेन

पूर्वाचार्यों द्वारा जीवन को सुखमय बनाने के लिये विचारों की पवित्रता पर पर्याप्त बल दिया जा चुका है, किन्तु विचारों में भी उदात्त तथा पवित्र भावना तब तक नहीं आ सकती, जब तक कि हम अपने जीवन को सादा या संयमी न बनायें। जो मनुष्य अपने जीवनमें सादगी रखते हैं अर्थात् जिनका रहन-सहन, खान-पान, उठना-बैठना, बोल-चाल, वेशभूषा सबमें सादगी का ही समावेश है, उनके मानसिक विचारों का प्रवाह बहिर्मुखी न होकर सदा अन्तर्मुखी ही लगा रहता है। विचारों का अन्तर्मुखी होना ही मानो अपने मन में उदात्त भावना को जागृत करना है। इसके विपरीत जो जन अपने रहन-सहन, वेशभूषा आदि में सादगी नहीं रखते। जो दिन-रात अपने रहन-सहन, वेशभूषा आदि को केवल प्रदर्शन की वस्तु बनाने में ही अग्रसर रहते हैं अर्थात् अपने शरीर के बाह्य बनाव-ठनाव में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं और रात-दिन उसी में लीन रहते हैं, उनके विचार आत्मा की गहराई तक न पहुंच कर शरीर की बन-ठन और वेष-भूषा तक ही सीमित रह जाया करते हैं और कालान्तर में उनके जीवन सादा तथा संयमी न रहकर केवल विलासिता की प्रिय वस्तु बन जाते हैं। ऐसे केवल बाह्य शृंगारप्रिय पुरुष संसार में कोई भी महान् कार्य नहीं कर पाते, क्योंकि उनके विचार वहां तक पहुंच ही नहीं सकते, भला जिनके विचारों में महत्वाकांक्षा नहीं, वे महान् कार्य ही क्या करेंगे। जिनके विचार मस्तिष्क के ऊपरी खोल अर्थात् बालों की सजावट में ही लगे रहते हैं, बालोंके सौन्दर्य को ही अपना सौन्दर्य समझ फूले नहीं समाते, वे भला मस्तिष्क के अन्तःस्थल में गहराई से कैसे प्रवेश कर सकेंगे। और बिना मस्तिष्क के अन्तःस्थलमें प्रवेश पाये उनके मनमें उदात्त भावना और ऊंचे विचार कैसे उठेंगे? इसके विपरीत जो मनुष्य केवल मस्तिष्क-रक्षा के साधनमात्र बालों में ही आसक्त नहीं होते, अर्थात् अहर्निश उनकी सजावट में अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री नहीं समझते, वे उन बालों के अन्दर छुपे मस्तिष्क के अन्तःस्थल में प्रवेश कर उसमें से ऊंचे विचार और उदात्त भावनाओं को जागृत कर अपने जीवन को उच्च, पवित्र और महान् बना लेते हैं।

याद रखो, अपने मस्तिष्क, आंख, नाक, कान, मुख, छाती, भुजाओं आदिकी सुन्दरता उनके बनाव-ठनाव में नहीं, उनकी सुन्दरता तो इसी में है कि उन्हें स्वस्थ, बलवान और नीरोग बनाया जाय और सदा उन्हें परहित परायण तथा शुभ कार्यों में लगाया जाय। वे सदा दिव्य भावों तथा दैवी विचारों का ही रक्षण और पोषण करने वाले हों। वे सदा 'देवहितं यदायुः' अपनी सारी आयु को देवताओं अर्थात् देवजन-प्रिय कार्यों में ही लगा देने वाले हों। अतः यदि तुम अपने जीवन को महान् और सुखमय बनाना चाहते हो और यदि संसार में कुछ महत्वपूर्ण कार्य करना चाहतेहो तो अपने जीवन को विलास और शृंगारप्रिय न बनाकर, उसे सादा और संयमी बनाओ। इसके लिए आवश्यक है कि तुम केवल अपने शरीर की बाह्य सजावट में

ही न फँसाकर उसे संयम तथा उत्तम आहार-व्यवहार द्वारा स्वस्थ बलवान् और नीरोग बनाओ। उसके वास्तविक छिद्रों अर्थात् कमजोरियों और बीमारियों पर दृष्टि डालो और उन्हें दूर करनेका सतत प्रयत्न करो। भगवान् ने हमें यह अपूर्व शक्ति दी है कि जिसके द्वारा हम अपने को जैसा चाहें, वैसा बना सकते हैं। हम अपने जीवन और भाग्य के स्वयं निर्माता हैं। विधाता ने हमें परतन्त्र नहीं, प्रत्युत स्वतन्त्र बनाकर इस संसार में भेजा है। अतः हे प्रिय युवक, युवतियो! तुम अपने को जैसा भी बनाना चाहते हो, अपने अन्तर्मन में वैसी ही भावनाओं को जागृत करो। अपने जीवनका एक आदर्श कल्पित कर अपने मन को उसमें लगा दो। मन को कभी खाली मत रहने दो, क्योंकि जैसे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को काममें न लाने से वे बेकार और निकम्मे बन जाते हैं। उसी प्रकार मन और मस्तिष्क को भी काम में न लाने से वे बेकार और निकम्मे हो जाते हैं। उनकी बौद्धिक और आत्मिक शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। अतः अपने मन को विलास तथा शृंगार-प्रिय न बनाकर उसे अपने जीवनोत्थान के कामोंमें ही लगा दो। व्यायाम, संयम और ब्रह्मचर्य द्वारा अपने वीर्य की रक्षा करो और अपने शरीरको स्वस्थ, बलवान् और तेजस्वी बनाने का भरसक प्रयत्न करो। तुम्हारे चेहरे का सौन्दर्य आन्तरिक बल, वीर्य और तेज के कारण हो, न कि पाउडर, क्रीम और लविण्डर के कारण। जितना समय तुम अपने शरीर को सुन्दर बनाने के लिए बाह्य बनाव-ठनाव अर्थात् पाउडर और क्रीम लगाने में व्यय करते हो उतने समय में व्यायाम करो। बाहर खुली हवा में घूमने जाओ और उसके द्वारा अपने शरीर के बल और तेज को बढ़ाओ। प्राणायाम द्वारा चेहरे की भव्यता, छाती की विशालता, फेफड़ों की दृढ़ता, रक्त की शुद्धता और मानसिक शक्ति की दिव्यता का विस्तार करो। सात्त्विक और पौष्टिक आहार खाओ। मादक द्रव्य और हानिकर पेयों आदि पदार्थों का सर्वथा परित्याग कर दो। खुले हवादार स्थानों का सेवन करो। वहाँ जाकर प्रकृति के स्वाभाविक सौन्दर्य को निहारो और उससे शिक्षा लो। अपने बालों, आँख, कान, मुख और दाँतों आदि सभी अंगों को प्राकृतिक उपायों द्वारा स्वस्थ और सुन्दर बनाओ न कि कृत्रिम साधनों द्वारा। चिन्ता, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों को अपने अन्दर से निकाल दो। अपने मस्तिष्क की शक्तियों को उच्च विचारों, स्वाध्याय और सत्संग आदि के द्वारा विकसित करो। अपने संकल्पों और विचारों को प्रभावशाली बनाओ, आत्म-गौरव को धारण करो। सदा उत्तम तथा परहित कर्म करते हुए जीओ। जहाँ तुम विलासी मत बनो, वहाँ आलसी और प्रमादी भी मत बनो। याद रखो? जैसे बिना प्रयोग में लाई हुई तलवार हो जाती है उस पर जङ्ग चढ़ जाता है। वैसे बिना काम में लगाये हुए आत्मा और मन भी बेकार हो जाते हैं, उन पर भी जङ्ग चढ़ जाता है।

(शेष टाइटिल ३ पर)

अनन्त इच्छाएँ

इन उम्र से भी लम्बी सड़कों से
गुजरते हुये, मुझे कभी-कभी
यूँ लगता है कि यूँ ही
गुजरते-गुजरते सारा जीवन गुजर जायेगा जैसे एक क्षण में
मेरी असीमित इच्छाओं में से
लाखों इच्छायें पूरी होने के
बाद भी, मरने से पहले, यूँ लगेगा
मानो अभी भी लाखों इच्छायें अपूर्ण दबी रह गई हैं मेरे मन में
हो सकता है शायद
कभी कहीं जाकर यह उम्र से भी
लम्बी सड़कें खत्म हो जाये, इनका छोर मिल जाये
मगर मेरी इच्छायें !
सीमा की हरेक परिधि से दूर
उस गगन की भाँति विशाल अनन्त है
जिसका छोर—जिसका अन्त ढूँढने पर भी कभी न मिल पाये —'अकिंचन'

(पृष्ठ ४८ का शेष)

जिसका उतरना अति दुस्तर हो जाता है। अतः सर्वदा अपने सामने के और भविष्य के कार्यों पर दृष्टि डालकर उनके करने में उद्यत हो जाओ। सदा प्रसन्न वदन तथा सुप्रादित रहने का अभ्यास डालो। अपनी भूतकाल की भूलों और चिन्ताओं को विवेक और विचार रूपी अग्निमें जला दो। सदा चिंतन तो करो किन्तु चिन्ता मत करो। सच्चरित्र, कर्मशील सादे और सरल स्वभाव वाले उत्साही जनों का संग करो। अपनी मानसिक कुवृत्तियों तथा कुत्सित विचारों को अपने वशमें करो। उन्हें कुपथगामी मत बनने दो, कुछ जीवन को स्वावलम्बी बनाने वाली कला-कौशल आदि में भी प्रवीणता प्राप्त करो। केवल पराधीन वृत्ति अर्थात् नौकरी का ही आश्रय मत लो। थोड़ी- संगीत-कला में अभिरुचि प्राप्त करो। सात्विक संगीत से आत्मा को शान्ति और आनन्द मिलता है। प्रेमको अपने जीवन का प्रधान अंग बनाओ। याद रखो ? प्रेम ही सुखी जीवनका सार है, स्वयं भगवान् भी प्रेम स्वरूप हैं। अतः तुम भी प्राणिमात्र से प्रेम करो। मन में द्वेष तथा घृणा की भावना को निकाल दो। नीच-ऊँचके भावको भुला दो। याद रखो ? सदा हँस-मुख रहने, सबसे प्रेम करने और दूसरों के अवगुणों को छोड़ गुणों पर ध्यान देने से आत्मा में शांति, शारीरिक रोगों की निवृत्ति और आयु की वृद्धि होती है। बुरे तथा निकृष्ट भावों को दबाकर उच्च, पवित्र और महान् भावों को जागृत करो।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 Jun. 1987

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्गुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, बसई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book–Post

—❀❀❀—

श्री ....

....

....

....

❋ सत्य पालन के आवश्यक नियम ❋

सत्य का व्रत धारण करने के लिए निम्नलिखित नियमों का पालन करना आवश्यक होता है।

(१) आवश्यकता के अनुसार ही बोलें, अनावश्यक बातचीत बिल्कुल न करें। (२) असत्य कड़वे और जिनसे दूसरे के हृदय को चोट पहुँचे ऐसे शब्दों का प्रयोग वार्तालाप में न करें। (३) परस्पर में द्वेष बढ़े ऐसी बातें भी न करें, और परोक्ष में किसी की निन्दा भी न करें। (४) किसी को ऐसा बचन न दें जिसे आप पूरा न कर सकते हों। जिसे जो बचन दिया हो उसे पूरा करने का पूरा प्रयत्न करना चाहिये। (५) समय का मूल्य समझते हुये अपने प्रत्येक दैनिक कार्य को समय पर ही सम्पादन करने का स्वभाव बनाइये तथा दूसरों को भी जो समय आप दें उसी पर उनसे मिलने या भेंट करने का पूरा प्रयत्न करें। निश्चय ही इन कुछ बातों का आप ध्यान रखेंगे तो आप बोलने के व्रत का भली प्रकार निर्वाह कर सकेंगे।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'विश्व' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ ताजगंज, आगरा-१ फोन ६३१६८